

ॐ

श्री परमात्मने नमः

# ब्रह्मबुशीलन

-: लेखक :-

आत्मज्ञ सत्पुरुष पूज्य भाईश्री शशीभाई



: प्रकाशक :

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट  
भावनगर



प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

□ वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाड़ी,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५

□ गुरु गौरव

श्री कुन्दकुन्दकहान जैन साहित्य केन्द्र, सोनगढ़

□ श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट

विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ़

फोन : (०५७९) ४१००१०/११/१२

□ श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (०३३) २४७५२६९७

अमी अग्रवाल (अहमदाबाद) : (०७९) R-२५४५०४९२, ९३७७१४८९६३

चतुर्थावृत्ति : प्रत : १००० (दि. २८-११-२००६, पूज्य भाईश्री शशीभाई  
की ७४वीं जन्म जयंती)

पृष्ठ संख्या : ८ + २६० = २६८

लागत मूल्य : ३५/-

विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेसन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ,

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

□ गवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

बारडोलपूरा,

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२



## प्रकाशकीय (चतुर्थावृत्ति)

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित लेखों में, अध्यात्म तत्त्व रसिक, तत्त्वनिष्ठ, श्रद्धेय पूज्य भाईश्री शशीभाई की सशक्त लेखनी के द्वारा स्वयं की अंतरमंथित अनुभवप्रधान सत्विचारणा की गहरी, तलस्पर्शी सूक्ष्म खोज से मुमुक्षुओं की भूमिका को स्पर्श करते ऐसे कितने ही प्रयोजनभूत विषयों के बारे में उनके मौलिक लेख तत्त्वानुशीलन (गुजराती में) प्रकाशित हुए हैं। उपरोक्त पुस्तिका में छपे हुए लेख के बारे में आत्महितेच्छुक मुमुक्षुओं की ओर से बहुत ही आवकार संप्राप्त हुआ है। उसके बाद अन्य लेख भी प्रकाशित हुए हैं। उन समस्त लेखों का हिन्दी भाषा में एक पुस्तकाकार के रूप में प्रकाशन हो ऐसी कई जिज्ञासुओं की माँग थी। इसलिये उक्त समस्त लेखों को 'तत्त्वानुशीलन' (हिन्दी) के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है।

प्रस्तुत लेखों में जो कुछ विषय का प्रतिपादन है उस सम्बन्ध में लेखक की ओर से प्रत्यक्ष उपकारी परम पूज्य गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी, पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी, एवं भगवती माता पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन के प्रत्यक्ष समागम और उपकार से प्राप्त उपदेश के फलस्वरूप है, जो अविस्मरणीय है। तद्उपरांत आत्मज्ञ सन्त परम कृपालुदेव 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें से अंतर निहित अखण्ड मोक्षमार्ग को एवं मुमुक्षुजीव

को कहाँ से शुरुआत करके भवविनाशक सम्यक्दर्शन पर्यत पहुँचना, उस विषय में अनुभवप्रधान मार्ग को प्रकाशित किया है। वह आत्मार्थी जीवों के लिये प्रकाश स्तम्भ स्वरूप है और अत्यन्त उपकाररूप है।

अंत में, इस ग्रन्थ का मूल्य कम करने के लिये जो दान राशि प्राप्त हुई है उसका साभार विवरण अन्यत्र प्रकाशित करने में आया है।

ग्रन्थ के टाइपसेटिंग के लिये पूजा इम्प्रेसन्स, भावनगर एवं मुद्रण कार्य के लिये मे. भगवती ऑफसेट, अमदावाद के हम आभारी हैं।

भावनगर

ट्रस्टीगण

दि. २१-१०-२००६ वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट  
(वीर निर्वाण कल्याणक भावनगर  
दिन)

‘तत्त्वानुशीलन’ पुस्तक के प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशी

श्रीमती चंद्रिकाबहन शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर ५,१००/-



## अनुक्रम

१. सुविधि	१
२. पर्याय में एकत्व	१५
३. आत्म रुचि	२३
४. सत्पात्रता	२८
५. स्वाध्याय पद्धति	४३
६. विवक्षा छत्तीसी	५०
७. भाव संतुलनरूप अनेकांत	५५
८. ज्ञान	६४
९. मंगल प्रारंभ	७१
१०. परिणमन में अभिप्राय की भूमिका	८१
११. भक्ति	९८
१२. आत्म संतुलन	११०
१३. अष्टांग विभूषित अखण्ड सम्यग्दर्शन	१३७
१४. सरलता	१६५
१५. श्री जिनेन्द्रदर्शन	१७१
१६. आत्मउन्नतिका प्रशस्त क्रम	१७७
१७. विज्ञान और धर्म	१८६
१८. समकित का बीज	२०९
१९. एक महान समस्या और उसका निराकरण	२२०
२०. सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला आत्मार्थी कैसा हो ?	२२४
२१. सम्यक्त्व क्या है ?	२४२

पूर्णता का लक्ष होने के पश्चात् मोक्षार्थी जीव निजावलोकन में आता है, तब प्रथम तो अपने दोषों को अपक्षपातरूप से देखता है, - इस प्रकार के अभ्यास से अवलोकन सूक्ष्म होता जाता है, तब अपने कार्यक्षेत्र की मर्यादा का अनुभव समझ में आता है, वह इस प्रकार कि, मैं सिर्फ भावरूपी कार्य करता हूँ, मेरा कार्यक्षेत्र यहाँ समाप्त होता है। पर पदार्थ का कार्य करने का उदयभाव होता है, परन्तु मेरी पहुँच वहाँ - परमें नहीं है। अतः पर का कार्य करना अशक्य दिखता है, जिसके कारण उस उदयभाव का जोर टूट जाता है। इस प्रकार के अभ्यास से पर की कर्ताबुद्धि, भोक्ताबुद्धि कमजोर होती जाती है। देह के कार्य में भी ऐसा ही अनुभव होता हुआ दिखने से देहात्मबुद्धि भी मंद होती जाती है। सुखबुद्धि व आधारबुद्धि भी मंद पड़ने से दर्शनमोह का अनुभाग काफी मात्रा में घटता जाता है, एकत्व पतला पड़ता जाता है।

- पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - १५६३)



एक मरण की या मृत्यु के कारण की जीव को जितनी गंभीर चिंता हो जाती है, उससे अल्प चिंता अनन्त जन्म - मरण व उसके कारण की भी नहीं होती हो ! तो जीव को 'मार्ग' कैसे सूझे ? अथवा उसे दृढ़ मोक्षेच्छा कैसे प्रगट होगी ?

- पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - १४०८)



सुखस्वभावी ऐसे जीव को, सुख चाहिए, उसके बिना चैन नहीं पड़ता, तृप्ति नहीं होती। निजसुख से अनभिज्ञ होने के कारण सुखार्थ अनेकविध पदार्थ - प्राप्ति की इच्छा सहज हुआ करती है, जो कि स्वयं दुःखरूप - आकुलतारूप, अंतरदाहरूप है। ऐसे अंतरदाह को शांत करने के लिए शांत - सुधारसमय ज्ञानस्वरूप में अंतमुख्य होना - यह एक मात्र उपाय है। उपशमरस से त्रिविध तापाग्नि शांत होती है। - ऐसे ज्ञानीपुरुष के निश्चय को नमस्कार हो !!

- पूज्य भाईश्री (अनुभव संजीवनी - १३६३)

‘मैं ज्ञानमात्र हूँ

□

सुखधाम अनंत सुसंत चही,  
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;  
प्रशांति अनंत सुधामय जे,  
प्रणमं पद ते वरते जयते.

□

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्या,  
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्या.  
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्या,  
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

□

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;  
कई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

□

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

□





## सुविधि

स्वरूप प्राप्त करने की कार्यपद्धति - यथार्थ कार्यपद्धति को 'सुविधि' कहते हैं। ऐसी सुविधि कोई परिभाषा (Theory) नहीं है। उसी प्रकार से (यह) किसी सूत्र का शब्दार्थ, भावार्थ अथवा धारणा-ज्ञान का प्रकार नहीं है परन्तु स्वरूप साधने के लिये उद्यमवंत जीव का प्रयोगात्मक परिणमन है जो कि उपायरूप है।

यद्यपि एकमात्र आत्महित के लक्ष से द्रव्यश्रुत द्वारा यानी कि आत्मानुभवी पुरुषों की वाणी का श्रवण-वाचन, सत्पुरुष के चरणों में रहकर स्वरूप प्राप्ति की भावना और लगनी सहित करने में आये; वहाँ प्रथम विचार-मनन-चिंतवनपूर्वक श्रुत की धारणा का प्रसंग है। फिर भी धारणारूप समझ को साथ ही साथ उदय प्रसंग में लागू करना - करते ही रहना चाहिये; अन्यथा मात्र धारणा से संतुष्ट होकर वहीं पर रुक जाना अनिवार्यरूप से हो जायेगा। इस प्रकार (की) समझ के बाद परिणमन की दिशा में एक कदम आगे बढ़ने की यह पद्धति है।

ज्ञानीपुरुषों ने आत्महित के उपाय का दो विभाग में वर्णन किया है - एक तो साक्षात् मोक्ष का मार्ग कि जो सम्यक्



पुरुषार्थ सहित होता है और दूसरा उसकी प्राप्ति हेतु पूर्वभूमिका में उस मार्ग पर्यंत पहुँचने के प्रयासरूप मुमुक्षुदशा। इस प्रकार ज्ञानदशा और मुमुक्षुदशा में किस प्रकार के प्रयोग से आगे बढ़ते-बढ़ते पूर्ण शुद्धिरूप ध्येय को साधने में आता है उस मार्ग की विधि की सूक्ष्मता विकल्प जितनी स्थूल नहीं है तो वचन-कथन की स्थूल परिस्थिति में किस प्रकार समा सके ? ऐसी एक समस्या इस विषय को व्यक्त करने में यहाँ उत्पन्न होती है; तथापि समर्थ सत्पुरुषों ने प्रस्तुत विषय को यत्किंचित् वचनगोचर किया हुआ होने से, उसके आधार से स्व-पर हितार्थ यहाँ प्रस्तुत है :

प्रथमतः ही जिस जीव को जन्म-मरण के चक्रमें से छूटने का तीव्र भाव / उछाल अंतर से आता है अथवा जो एकमात्र आत्महितार्थ उल्लासित वीर्यवान होकर उसी लक्ष से प्रवर्तता है वैसा जीव अपनी दशा में प्रवर्तमान अवगुणों का नाश करने के दृष्टिकोण को मुख्य रखकर सत्श्रुत का अवगाहन करता है, वहाँ प्रथम कार्य विचार-मननपूर्वक शुरु होता है उसमें अपने पूर्वग्रहित अभिप्राय तथा मान्यता से विरुद्ध प्रकारों एवं उपदिष्ट विषय का बहुत मंथन चले और उस मंथन के अंत में सत्य संमत हो जाये, तो भी प्रयोग करके उसे संमत करने की पद्धति रखें - ऐसा प्रकार, यह सुयोग्य प्रकार है।

यथार्थ कार्यपद्धति / विधि के संदर्भ में सोचने पर अपने परिणामों का अवलोकन होना ही योग्य पद्धति है क्योंकि अवलोकन हुए बिना परिणाम में उत्पन्न रस को जीव स्वयं समझ नहीं सकता और तत्त्वज्ञान का अभ्यास मात्र धारणारूप परलक्षी हो



जाता है। ऐसी परलक्षी धारणा का उपयोग नहीं हो सकता और ऐसी उपदिष्ट धारणा प्रायः कृत्रिमता को उत्पन्न करती है अर्थात् धारणानुसार कार्य करने की कर्तृत्वबुद्धि से धारणा का विषय चरितार्थ करने का होता है। वास्तव में तो तत्त्व का अभ्यास स्वलक्षी / आत्मलक्षी होना चाहिये क्योंकि :

१. स्वलक्षीज्ञान ही प्रतीति को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु परलक्षी आगमज्ञान अनादि विपरीत श्रद्धा को पलटने के लिये समर्थ नहीं है। जिस तरह राग से विपरीत श्रद्धा पलटी नहीं जा सकती उसी तरह परलक्षीज्ञान भी सम्यक् श्रद्धा को उत्पन्न करने में असमर्थ है।

२. स्वलक्षीज्ञान गुण को / स्वभाव को साध सकता है परन्तु परलक्षीज्ञान विकल्पवृद्धि में परिणमता है या प्रायः शास्त्रीय अभिनिवेश आदि दोषों को साधता है।

३. स्वलक्षीज्ञान अनुभव में आ रहे भावों की गहराई में जाता है, जिससे स्वभाव-विभाव जाति की परख होने की क्षमता उत्पन्न होती है परन्तु परलक्षीज्ञान तो स्थूलरूप से ऊपर-ऊपर से प्रवर्तन करके मात्र धारणा करता है।

४. स्वलक्षीज्ञान के साथ प्रतीति सम्मिलित होती है जिसके कारण स्वरूपस्थिरता का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। परन्तु परलक्षीज्ञान विशाल क्षयोपशमवाला होने पर भी उससे उपयोग की स्वरूप में स्थिरता नहीं हो सकती।

५. स्वलक्षीज्ञान में हुआ आत्मस्वरूप का निर्णय स्वरूप की अनन्य रुचि, अंतर्मुखी पुरुषार्थ का बल एवं अपूर्व चैतन्यरस (स्वरूप महिमा की वजह से उत्पन्न हुआ) उत्पन्न करता है।



परन्तु परलक्षी ज्ञान से आगम के आधार से किया हुआ स्वरूप का निर्णय भी आत्मस्वरूप के महिमा-रस-रुचि-पुरुषार्थ को जागृत नहीं कर सकता।

जीव के परिणमन के विज्ञान अनुसार परिणाम की शक्ति उसमें रहे हुए रस में मौजूद है। इसलिये विभावरस टूटकर स्वभावरस समुत्पन्न हो यह जीव का कर्तव्य है। विभावरस शुभ तथा अशुभ दोनों समानरूप से आत्मा को प्रतिबंधक है - ऐसा अवलोकन बिना अन्य किसी तरीके से अपने को अनुभव में (समझ में) नहीं आ सकता। रस तथा रुचि के परिणाम अविनाभावी हैं, इसलिये स्वयं की विभाव की रुचि को पलटाये बिना; जो कोई जीव ध्यान-योगादि प्रयोग द्वारा उपयोग को बहिर्मुखता से पलटाकर अंतर्मुख करना चाहता है उसे मार्ग की यथार्थ विधि के क्रम की खबर नहीं होने के कारण उस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती है। वैज्ञानिक परिस्थिति ऐसी है कि, प्रथम रुचि को पलटाये बिना उपयोग नहीं पलट सकता। इसलिये इस विज्ञान से अनजाने जीव अविधिपूर्वक उपयोग को पलटाने का व्यर्थ में ही परिश्रम करते हैं, उसमें समय और शक्ति का मात्र दुर्व्यय ही होता है।

निज हित की तीव्र भावना के कारण मुमुक्षु जीव जब अवलोकन पद्धति में आता है; तब स्वयं के ही चलते परिणाम का जो अनुभव (है), उसे समझने का अभ्यास चलता है। शास्त्र के निमित्त से निमित्ताश्रित ज्ञानाभ्यास है, जब कि यहाँ उपादान आश्रित ज्ञानाभ्यास है। बारंबार के अवलोकन के दीर्घकालीन अभ्यास से; अवगुण टालने के लक्षवाले जीव को अनेक प्रकार

के विभावभाव में आकुलता का अनभुव होता है-ऐसा अनुभवपद्धति से समझता है। तदुपरांत उन-उन विभावों में निहित किन्तु व्यक्त मलिनता को भी अनुभव से समझता है। इसलिये उन-उन भावों की अरुचि पैदा होती है तथा वहाँ से खिसकने की सहजवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार विभावरस मंद पड़ता है। अवलोकन के अभ्यास में आत्मरुचि के कारण सूक्ष्म हुए ज्ञान में अपनी विभाव परिणती मुमुक्षुजीव को भास्यमान होती है।

जीव सामान्यतः संसार में अनुकूलता-प्रतिकूलता की मुख्यता में संयोगों से चिपककर प्रवर्तते रहते हैं। परन्तु आत्मार्थी जीव इस प्रकार में नहीं जाकर के उदय में इष्ट-अनिष्टपने से निवर्तित होने के पुरुषार्थ में लगा रहता है-निजहित की अपूर्व लगनी से लगा हुआ होने के कारण वह अवश्य आत्महित साधेगा।

अवलोकन करनेवाला ज्ञान स्वयं का अवलोकन भी करता है, वहाँ प्रथम ज्ञान की व्याप्ति के अनुभव को बारंबार उदय के प्रसंगों में जाँचता है, जिस जाँच के अभ्यास की फलश्रुति इस प्रकार आती है कि मेरा ज्ञान (पुद्गल के जो-जो कार्य जीवभाव के साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव से परस्पर मेलवाले हो रहे हैं फिर भी) किसी भी संयोगी पदार्थ में व्यापता नहीं है; मात्र जानने की मर्यादा में ही रहता है। विकल्प भी मात्र विकल्प की ही मर्यादा में रहता है। वह विकल्प भी विकल्पानुसार कार्य का अनुसरण करे ऐसे शरीरादि की पर्यायों में व्यापता नहीं है। इस तरह कार्य-कारण में स्व-पर की भिन्नता अवलोकन



से समझ में आने पर जीव का उदय के कार्यों को करने का रस टूटता है और ऐसे परिणाम में परपदार्थ के प्रति का जोर (बल) कम हो जाता है। जहाँ किसी भी कार्य को करने का रस एवं जोर न हो वहाँ तत्संबंधित दुराग्रह और तीव्र कषायरस कैसे हो ?

सर्व दोषों से रहित होने की भावना में, पूर्णशुद्धि प्राप्त करने का अभिप्राय रहा है। अतः पूर्ण शुद्धता का लक्ष-ध्येय दृढ़ मोक्षेच्छा में परिणमित होता है। स्वरूपप्राप्ति की ऐसी भावना में आत्मस्वभाव की भावना गर्भित है। इसलिये मुमुक्षुजीव को अपना मूलस्वरूप पहचानने की कोई अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसी जिज्ञासा का अंत जब तक 'स्वरूपनिर्णय' में नहीं आता तब तक (यह) अतृप्त जिज्ञासा मुमुक्षुजीव के सभी उदय प्रसंगों में और पंचेन्द्रिय के विषयों में नीरस कर देती है। इतना ही नहीं अपितु इस स्थिति की तीव्रतामें से गुजरने पर नींद भी उड़ जाती है अर्थात् रात-दिन उसकी आत्मा स्वरूप-खोज में लगी रहती है। निर्मोही स्वरूप की खोज की तीव्रता के कारण दर्शनमोह का अनुभाव यथार्थरूप से काफी मात्रा में कम होता है। इसलिये ज्ञान में अनादि से रहे अज्ञान-अंधकार के पटल की प्रगाढ़ता कम होती है, अर्थात् इस भूमिका में ज्ञान स्वरूपनिश्चय हेतु सक्षम / निर्मल होता है-ऐसे मुमुक्षुजीव को आध्यात्मशास्त्र के भाव यथार्थरूप से भासित होते हैं और ऐसे निमित्तों में आध्यात्मरस वृद्धिगत भी होता है।

दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का दूसरा एक समर्थ कारण भी इस काल में उत्पन्न होता है, वह विद्यमान सत्पुरुष



के चरणसानिध्य में सरलतापूर्वक सत्संगप्राप्ति की भावना है। अनादि से अनजान ऐसे सन्मार्ग को दर्शानेवाले सत्पुरुष, मार्ग के सच्चे जिज्ञासु के लिये वास्तव में परमात्मा तुल्य ही हैं, ऐसा मात्र स्वरूप के खोजी जीव को ही लगता है; इसलिये यदि कदाचित किसी सत्पुरुष का योग हो जाये तो सर्वार्पणबुद्धि से सत्संग को मुख्य करता है और यदि ऐसा योग न हो तो, वह ऐसे योग की आश्रयभावना में वर्तता है। इस प्रकार के परिणाम, दर्शनमोह का अनुभाग कम होने का अति सुगम व सरल उपाय है। 'स्वरूपनिश्चय' होने की योग्यता की प्राप्ति-तथारूप वर्तमान पात्रता यहाँ उत्पन्न होती है। दर्शनमोह के विज्ञान अनुसार यह सिद्धान्त है कि 'दर्शनमोह मंद हुए बिना वस्तुस्वरूप का भासन होता नहीं और दर्शनमोह का अभाव हुए बिना आत्मा अनुभव में आये ऐसा है नहीं।' आत्मानुभव होने का यह अनिवार्य क्रम है।

उपरोक्त पात्रता में आया हुआ मोक्षार्थी जीव अंतर संशोधन में गहराई में जाता है तब स्वयं के 'ज्ञान लक्षण' से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय निम्न विधि से करता है : इस विधि का प्रसिद्ध नाम 'भेदज्ञान' है। वहाँ प्रथम बुद्धिपूर्वक ऊपर-ऊपर से भेदज्ञान का प्रयास चालू होता है। प्रयास मतलब स्वयं मात्र जाननेवाला / ज्ञायक है ऐसे ज्ञायक का ज्ञायकरूप से अभ्यास करे, यानी उदय में जब-जब हर्ष-शोक के भावों के तीव्र रस के प्रसंगों में अपनी जाँच करे (ज्ञान, ज्ञान की जाँच करे) तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मेरे ज्ञान में तो वास्तव में कुछ कम-ज्यादा हुआ नहीं अर्थात् हर्ष होने से मुझे कुछ मिला



नहीं और शोक के प्रसंग में मेरेमें से कुछ गया नहीं। यह सिर्फ विकल्प करने मात्र नहीं परन्तु चलते हुए परिणमन में अपने अनुभव की जाँच करके मालूम पड़ी हुई भिन्नता है। बारंबार इस प्रकार भिन्नपने का अध्यास होने से स्वयं को ख्याल आता है कि मिथ्याबुद्धिरूप अभ्यास से जो 'परप्रवेशभाव' रूप अनुभव हो रहा है, उसका झूठापन समझ में आता है। 'परप्रवेशभाव' वह विपरीत प्रयोगरूप परिणमन है, ऐसा अवलोकन से समझ में आता है तब उस भूल को मिटाने की सूझ ख्याल में आती है। अर्थात् सुलटे प्रयोग की रीत समझ में आती है। यह 'परप्रवेशभाव' ही जीव के स्वसंवेदन को रोकनेवाला भाव है। इस प्रकार भेदज्ञान के प्रयोगाभ्यास से मालूम पड़ता है कि कोई परज्ञेय (रागादि परभाव भी) वास्तव में मेरे पर-ज्ञान पर किंचित् मात्र असर नहीं पहुँचा सकता है। अनंतकाल से मैंने परपदार्थ का अनुभव किया है ऐसी मान्यता रखी है, वह असत्य है। अनंतकाल से रागादि भावों के असर में अनेकविध विकारीभावरूप अपने को अनुभव करके प्रगाढ़ रसवाले विकारी परिणाम के बीच रहने के बावजूद भी मेरा ज्ञानस्वरूप सदा निर्लेप ही रहा है।

अगर मोक्षार्थी जीव विशेष प्रकार की पात्रता में वर्तता हो और स्वहित में उत्साहित वीर्य से वर्तते हुए प्रत्येक कार्य में-प्रत्येक प्रसंग में, उपयोग में ज्ञान की व्यापकता को अवलोकता हो तो स्वयं 'ज्ञानमात्र' रूप भिन्न भासित होता है। इस प्रकार 'ज्ञानमात्रपने' का अभ्यास वृद्धिगत होने से 'ज्ञानमात्र' में ज्ञानवेदन भास्यमान होता है। वेदन कभी भी परोक्ष नहीं होता। अतः



ज्ञानवेदन से स्वयं प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष सहज स्वरूप से है- ऐसा अपने मूल स्वरूप का भावभासन स्वसन्मुखता के सहज पुरुषार्थ को सहज उत्पन्न करता है, जो वृद्धिगत होने पर कोई अपूर्व पराक्रम से परोक्षपने का विलय करके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष स्थिरभाव धारण करेगा। इस प्रकार का भेदज्ञान वह विभाव के निषेधपूर्वक प्रगट स्वभाव का आदर-सत्कार है। परमार्थ की तीव्र भावना में वर्तते जीव को इस प्रकार का भेदज्ञान प्रयासरूप से सहज होना योग्य है।

भेदज्ञान के प्रयोग से (अनादि से जो राग की मुख्यता अर्थात् राग में मैपना / राग में अस्तित्वपना ग्रहण हो रहा है उसको) ज्ञान में मैपना द्वारा ज्ञान को मुख्य करने से रागादिभावों में अभेदबुद्धि से वर्तने से कर्तापने का नाश होता है। यह स्वरूप अस्तित्व ग्रहण करने की प्रक्रिया (Process) है।

ज्ञान में मात्र ज्ञान को स्वरूप से अवलोकन करने का दृष्टिकोण साध्य करके बारंबार प्रयत्न करने से ज्ञान की स्वभाव जाति की परख आती है; तब विभावजातिवाले भावों की भी परख आती है; इसलिये विभाव का कोई भी रूप-अति शांत मन की शांति के रूप में हो तो भी वह विभाव ही है, ऐसी पहचान आती है, और उस विभाव की मलिनता तथा आकुलता पहचान में आ जाती है।

प्रगट ज्ञान में स्वभावअंश का विकास (-खुलापन) होने से स्वभाव की अनंत शक्ति / सामर्थ्य, शाश्वतपना आदि का निर्णय हो सकता है। जिसे राग के छोटे से छोटे कण में दुःख,



मलिनता और अचेतनपने का (-ज्ञानप्रकाश के अभाव का) निर्णय होता है; (युक्ति से नहीं परन्तु अनुभव के अवलोकन से) उसको ज्ञानलक्षण द्वारा स्वभावस्वरूप में स्थित अनंत सुख-सामर्थ्य का भी निश्चय होता है। अवलोकन में चेतना... चेतना... चेतना के सातत्य द्वारा अपना चेतना-गुणमयपना, परद्रव्य से तथा राग से अपने को भिन्न करने का एकमात्र साधन है, इसके अलावा अन्य कोई साधन नहीं है।

ज्ञान में रहे हुए ज्ञानवेदन द्वारा लक्षरूप आत्मा की प्रसिद्धि है। यह लक्ष-लक्षण की संधि है। जैसा आत्मा केवलज्ञान में जानने में आता है वैसा ही आत्मा लक्षगत होने पर अनंत महिमावंत पदार्थ साक्षात् सिद्ध स्वरूप में हूँ, ऐसा लगते ही उसकी कोई अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है। यह महिमा आत्मरस द्वारा परिणति को उत्पन्न करती है। बारंबार अपने ज्ञान-दर्शन द्वार में स्वरूपशक्ति को देखने से, उसमें निहित अनंत सुख का भंडार प्रतिभासित होने पर निर्विकल्प स्वरूप का रस घुटकर गाढ़ होता जाता है, ऐसी परिस्थिति में स्वभाव की अनन्य रुचि अपूर्व भाव से प्रगट होती है और रुचि अनुयायी वीर्य पुरुषार्थ के द्वारा अनंत प्रत्यक्ष नूर का पुंज ज्ञान में रही हुई परोक्षता को विलीन करके सहज प्रत्यक्षरूप वर्तने लगता है।

जब कि आम तौर से तत्त्वाभ्यास करनेवाले का ऐसा अभिप्राय होता है कि 'आत्मा परोक्ष है, अप्रगट है, इसलिये जानने में नहीं आता है' इसका समाधान ऐसे है कि स्वरूप से तो आत्मा प्रत्यक्ष ही है, परन्तु पर्याय अंतर्मुख हो तो 'आत्मा प्रत्यक्ष है' ऐसा जानने में आता है। बहिर्मुख ज्ञान की पर्यायवाले को



आत्मा प्रत्यक्ष लगता नहीं है, भासित नहीं होता है; परन्तु आत्मा प्रत्यक्ष ही है। उसके सन्मुख ढलकर देखे तो स्वयं प्रत्यक्ष है, ऐसा भासित होता है। परन्तु सन्मुख कैसे होना अथवा कैसे ढलना इसकी समस्या अवश्य है; इसका समाधान इस प्रकार है कि :

उपयोग में यानी कि चलती हुई ज्ञान की पर्याय में जाननरूप वस्तु को अर्थात् स्व को जाने। ज्ञान के आधार से-निर्विकल्प ज्ञानवेदन के आधार से हुआ निर्णय स्वरूपलक्ष को उत्पन्न करता है। यह निर्णय राग या निमित्त (देव-शास्त्र-गुरु) के आधार से हुआ नहीं है, परन्तु राग से अंशतः मुक्त होकर ज्ञान से ज्ञानस्वभाव का (स्व का) ज्ञान की अधिकता में (अनादि राग की मुख्यता थी उसको पलटकर के) हुआ भावभासन है, कि जिसमें भवी-अभवी की शंका नहीं रहती।

ज्ञान स्वयं वेदक स्वभावी है। इसलिये प्रवर्तमान ज्ञान की पर्याय में, वही पर्याय स्वयं के वेदन का अनुभव करे, तब स्वसन्मुख होकर वेदन का (प्रसंग) बनता है। इस तरह स्वसन्मुख होने की रीति (पद्धति) है। अंतरंग में रहे ज्ञानवेदन को वेदते समय ज्ञान की दिशा किसी बाह्य ज्ञेय पर नहीं होती है, परन्तु यहाँ ज्ञान की दिशा अंतर्मुख होती है और अंतर्मुख परिणमनस्वभाव प्रतिभासित होता है। दशा की दिशा पलटना वह अपूर्व है। ऐसे स्वरूपनिर्णय के काल में ही एक अखंड-अभेद वस्तु के द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेद यथार्थरूप से समझ में आते हैं। भेद समझ में आने पर भी, भेद का दृष्टिकोण गौण होकर मुख्यरूप से अभेदता साधने की प्रक्रिया चलती

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

है। वास्तविक परिस्थिति यह है कि वेदन वर्तमान अंश का होने के बावजूद भी अवलंबन अंशी का / स्वभाव का लेना है। जबकि वर्तमान अंशरूप वर्तता हुआ भाव, त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव में 'मैं-पने के भाव से' अभेदता साधकर स्वरूपानुभव करता है; फिर भी वेदन त्रिकाली में नहीं होता है; और पर्याय में राग वेदन गौण होकर ज्ञानवेदन का आविर्भाव होने पर भी उसका इतना मुख्यपना नहीं होता जिससे कि उसका अवलंबन ले लिया जाये।

विधि के संक्षेप का विचार करें तो प्रगट ज्ञानवेदन द्वारा स्वभाव की प्रत्यक्षता का प्रतीति के बल से बारंबार उग्रपना होने से (अभेदभाव से 'मैं ऐसा ही हूँ') स्वसंवेदन का आविर्भाव होता है। जिसमें श्रद्धा और ज्ञान की मैत्री है। इसी विधि का स्व. श्री दिपचंदजी ने 'अनुभव प्रकाश'में इन शब्दों में वर्णन किया है 'ज्ञान के प्रत्यक्ष रस का भाव में वेदन करना-वह अनुभव है।- 'स्वयं को ही प्रभु स्थापित कर, अपने परमेश्वरपद का दूर अवलोकन न कर।' अर्थात् अपने परमपद का भिन्न रहकर (-अवलोकन की पर्याय में खड़े रहकर) अनुभव नहीं कर सकते हैं।

जिस निजात्मतत्त्व की पहचान होती है वह शक्तिरूप होने पर भी अविकृतरूप से, अंतर्मुखपने से द्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव से परिणमित होने का उसका स्वभाव है। इस दृष्टिकोण से स्वभाव को देखने से (-मात्र विचार करने से नहीं), भाने से-शक्ति का व्यक्त परिणमन होने लगता है। द्रव्यानुसारी शुद्ध परिणमन उत्पन्न होने का यह विज्ञान है।



इस तरह वर्णन के अनेक प्रकार होने पर भी 'विधि' तो एक ही प्रकार से है।

प्रसिद्ध लक्षण से प्रसाध्यमान स्वभाव की / परमतत्त्व की महानता ही ऐसी है कि समस्त जगत सहज ही गौण हो जाता है। जगत को गौण करने के लिये कृत्रिम विकल्प अथवा कोई अन्य चेष्टा नहीं करनी पड़ती है।

प्रथम शुद्धोपयोग का जन्म उक्त भेदज्ञान के प्रयास का फल है और तभी सर्व गुणांश ऐसा सम्यक्त्व प्रगट होता है, यहाँ से ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है। मोक्षमार्गी धर्मात्मा को भेदज्ञान याद नहीं करना पड़ता या रटना नहीं पड़ता परन्तु सहज यानी कि विकल्प किये बिना सविकल्पदशा में भी भेदज्ञान, परिणतिरूप में निरंतर वर्तता है। श्रद्धा तो अखंड स्वरूप में प्रसरित हो जाती है और अपने परमात्मपद के अलावा अन्य किसी द्रव्य-भाव को वह स्वीकारती नहीं है। स्वयं के परिणाममें से अस्तित्वपने की श्रद्धा का नाश हो जाता है। वह शुरुआत से लेकर केवलज्ञान पर्यंत की पूर्णदशा निकट में वर्तती होने पर भी श्रद्धा उसको विषय नहीं करती; ऐसा ही कोई स्वभाविक गुण सम्यक्श्रद्धा के विषय में है। मोक्षमार्ग में वर्तता सम्यक्ज्ञान स्व-पर प्रकाशन में अपने को शुद्धरूप उपासता रहता है और निर्मलता आदि धर्मसहित पूर्णता के प्रति गतिमान रहता है। ज्ञान की प्रवृत्ति नय-प्रमाणयुक्त होती है। उसमें हमेशा व्यवहारनय की गौणता तथा निश्चयनय की मुख्यता रहने के कारण से निश्चयस्वरूप सधता है और निश्चय के जोर से अशुद्धता टलती जाती है तथा शुद्धता वृद्धिगत

होती जाती है। तो भी मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ के अनुसार सिद्धि के समय का आधार है। अर्थात् पूर्ण शुद्धि को प्राप्त होने में पुरुषार्थ की तीव्रता से अल्प समय में पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति होती है, जितनी शिथिलता रहती है उतना समय ज्यादा लगता है; परन्तु अल्प (असंख्य) समय में साधकदशा की पूर्णता अवश्य हो जाती है; पुरुषार्थ की उग्रता में मोक्षमार्गी धर्मात्मा शुद्धोपयोग में परिणमन करते हैं और पुरुषार्थ की मंदता में सविकल्पदशा में रहना होता है; फिर भी परिणति में धर्मध्यान निरंतर चालू ही रहता है, जिसे स्वरूपआचरणचारित्र अथवा आत्मचारित्र कहने में आता है। ये सारे परिणाम अभेदरूप से और अविरुद्धपने से वर्तते हैं-ऐसा जानना चाहिये।

महात्माओं ने समस्त शास्त्रों की रचना भेदज्ञान होने के लिये की है। क्योंकि यह उनका अखंड जाप है अथवा स्वधर्म में रहनेरूप प्रवृत्ति है।

अतः स्वरूपप्राप्ति के अभिलाषी जीवों को समस्त सिद्धांत और उपदेश के सारभूत सम्यक्विधि को जानकर अंगीकार करने योग्य है।

ॐ शांति





## पर्यायमें एकत्व

(१) अशुभमें रस आना :- पुद्गल पंचेन्द्रीय के विषयभूत पर्यायो में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धिपूर्वक तीव्र रस उत्पन्न होने से उन-उन भावों में तन्मयता होने से दृष्टि मिथ्या होती है, रहती है; पर्यायबुद्धि का यह लक्षण है। इसलिये निश्चयाभासी निश्चय-प्रधानता की चाहे जितनी बात करे, पर उसे अशुभ विषय में रस आये वहाँ दृष्टि सम्यक् कहाँ से रहे ? अशुभभाव में तो वास्तव में तीव्र दुःख है-वह भी उसे दिखता नहीं / लगता नहीं; वहाँ ज्ञान बहुत मलिन (कषायरसवाला होने की वजह से) हो गया है; तथा स्थूलता बढ़ी है।

(२) शुभ में दुःख नहीं लगना :- शुभभाव में (मंद) कषाय का सद्भाव है; जहाँ कषाय है वहाँ आकुलता अवश्य होती है। परंतु, शांता में-कृत्रिम शांति में सुख की कल्पना (-सुखस्वरूप की स्वभावबुद्धि के अभाव के कारण) होती है। तदुपरांत शुभभाव में धर्म अथवा धर्म का साधन मानना यह तो प्रकट मिथ्यादृष्टिपना है-वह जीव तो अकषाय स्वभाव / धर्मको धारणापूर्वक भी जानता नहीं है।

जिस जीव की धारणा में भूल नहीं है अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभभाव में धर्म नहीं मानता-ऐसे जीवको भी पर्यायमें एकत्व



के कारण विकल्प में बोझा नहीं लगता, तथा मलिनता भासित नहीं होती।

वास्तव में तो, निरुपाधिक स्वभाव-दृष्टि में विकल्पमात्र बोझ रूप है, और राग के अकर्ता (ऐसे) स्वभाव को राग के कर्तृत्व में अनंत बोझा और दुःख है। नेत्र द्वारा कूड़े का ढेर उठवाने बराबर है।

**(३) पर्याय की मुख्यता :-** तत्त्वज्ञान का अभ्यास करनेवाले जीव को प्रायः ऐसा अभिप्राय हो जाता है कि-पहले तो विकल्प होता है न ! पहले तो शुभभाव होता है न ! इत्यादि... इत्यादि... परंतु वहाँ प्रथम ही त्रिकाली स्वभाव की महत्ता आकर अधिकता रहनी चाहिये; इसके बजाय पर्याय पर उपरोक्त प्रकार से वजन रहा करता है, इसलिये पर्यायबुद्धि मिटती नहीं है, अपितु वृद्धिगत होती है। (पर्याय के क्रम का ज्ञान करना यह अलग प्रकार है, और मुझे पहले 'अमुक पर्याय करनी चाहिये'-यह पर्यायबुद्धि का विपर्यास है।)

**(४) पर्याय में संतुष्टपना :-** यह मिथ्यादृष्टि का खास लक्षण है। द्रव्यलिंगी भी इस प्रकार की भूल में रह जाता है-चारित्र तथा ज्ञान के क्षयोपशम विशेष के कारण संतोष हो जाता है, अथवा ठीकपना रहता है वहाँ उस जीवको वास्तवमें आत्मिक सुखकी जरूरत लगती नहीं है। अथवा स्वरूपप्राप्ति का अभाव होने पर भी असंतोष उत्पन्न होता नहीं है, परंतु चारित्र में अधिक मंदकषाय होने से, पूर्व के तीव्र कषाय की अपेक्षा ठीकपने की गिनती होती है-वह संतोष का ही प्रकार है, जो पर्याय के एकत्व को दृढ करता है।





किसी जीव को स्वाध्याय के निमित्त से ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है; वहाँ धारणाज्ञान में रस आने की वहज से अथवा न्यायादि समझ में आने से हुई प्रसन्नता में रुक जाने के कारण, अथवा पूर्व की असमाधानरूप समझ के कारण हो रही आकुलता (समाधान हो जाने से) मंद होने की वजह से-इसे ज्ञान का फल जानकर रुक जाने का होता है; और इसलिये स्वभाव को अंतर-प्रयास का अभाव वर्तता है; फिर भी उसकी चिंता उत्पन्न नहीं होती; परंतु भ्रम से चल रही पर्याय के प्रकार को दृढ करने लगता है; वह पर्याय के एकत्व को वृद्धिगत करता है।

(५) **पर्याय का अवलंबन** :- त्रिकाली परम स्वभाव का अवलंबन लेने योग्य है; और इसके अलावा किसी का-संयोग का, देह का, राग का या एक समय की पर्याय का भी अवलंबन लेना योग्य नहीं है। 'मैं समझता हूँ' आदि उघाड में (क्षयोपक्षम के विकास का) रस रहने से पर्याय का एकत्व छूटता नहीं है।

(६) **पर्याय का आश्रय / आधार** :- यद्यपि, कार्य मात्र वस्तु के पर्यायअंग में होता है; इसलिये दोष का अभाव होने का तथा गुण प्रकट होने का प्रयोजनभूत कार्य पर्याय में होता है। और प्रयोजन के कारण से भी वजन पर्याय पर रहता है, वहाँ अनादि से पर्याय में एकत्व की स्थिति ज्यादा दृढ हो जाती है। परंतु, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव का आश्रय होने पर ही उक्त प्रयोजनभूत कार्य सधता है-यह भूल जाने से, पर्याय के आधार से पर्याय का कार्य साधने का पर्याय-आश्रित कृत्रिम



पुरुषार्थ का विकल्प रहा करता है।

(७) **पर्याय का रस :-** वेदन पर्याय में होने की वजह से, पर्याय में रस सहज उत्पन्न होता है। तत्त्व विचारवाले जीव को भले जगत के प्रसंगों का / विषयों का रस शायद न हो; परंतु अनेकविध पर्याय के पहलूओं को जानने का रस हो जाता है; एवम् अध्यात्मदशाओं की महिमा श्रवण-वाचन में आने के कारण पर्यायत्व का रस वृद्धिगत होता है; और इसलिये द्रव्यस्वभाव की दिशा में जोर लगता नहीं; वहाँ पर्याय के रस में खिचकर रुक जाता है-इसलिये भी पर्याय का अनादि का एकत्व छूटता नहीं; यह ध्यान योग्य है।

(८) **पर्याय का लक्ष :-** मुमुक्षु जीव को भूल से-अनजाने में ही पर्याय का लक्ष रह जाता है। पर्याय में विवेक रहना चाहिये, अथवा अनुभव अभी हुआ नहीं है, अथवा इच्छा होने पर भी निर्विकल्प हुआ नहीं जाता... इत्यादि... प्रकार से पर्याय पर लक्ष रहने से, त्रिकाली नित्यअंग पर लक्ष नहीं रहता।

मूल - असल स्वरूप की पहचान-भावभासन होकर स्वभाव का लक्ष हो जाना चाहिये-जिससे कि लक्ष वहीं का वहीं रहा करे, हटे नहीं; ऐसा होने की बजाय जिसे पर्याय का लक्ष रहे, वह पर्यायमें एकत्व को मिटाने के लिये असमर्थ है-अयोग्य है।

(९) **पर्याय में सावधानी :-** निज-परमतत्त्व के लक्ष के अभाव में मुमुक्षु जीव को पर्याय में सावधानी रहा करती है। साधक-बाधक भावों संबंधी, अथवा व्यवहारभाव अमुक प्रकार के तो होने ही चाहिये ! इस तरह शुरु से ही व्यवहार का



विकल्प करनेका अभिप्राय रखनेमें आता है, अथवा पर्याय को अंतर्मुख करने की इच्छा से भी पर्याय प्रति सावधानी रहती है है-वह पर्यायबुद्धि से रहती है। ऐसे विकल्प से अंतर्मुख नहीं हुआ जाता, परंतु द्रव्यस्वभाव की सावधानी से ही अंतर्मुख हुआ जाता है और तभी पर्याय का एकत्व मिटता है।

**(१०) पर्याय पर जोर :-** स्वरूप का चिंतन-मनन-घोलन के बहाने पर्याय पर जोर रहे... तो भी पर्याय का एकत्व वृद्धिगत हो जाता है यह ध्यान रखने योग्य है। तथा सहज अंतर्मुखी पुरुषार्थ के स्वरूप से अनजान ऐसे जीव को पुरुषार्थ करने के विकल्प से भी पर्याय पर जोर रहता है; परंतु इससे कार्य सिद्ध नहीं होता है।

स्वरूप-सामर्थ्य के आधार से वीर्य सहज उछलता है अर्थात् पर्याय का वेग स्वरूप-प्रत्ययी सहज मुड़े... ऐसा स्वरूप आकर्षण वह सम्यक् पुरुषार्थ का स्वरूप है। उसमें 'मात्र ज्ञायक हूँ' ऐसा निर्विकल्पभाव से बल रहता है-वह यथार्थ है।

**(११) पर्याय का कर्तृत्व :-** पर्याय के कर्तृत्व के कारण जीव रागादिभावों का कर्ता होकर परिणमता है। स्वयं ज्ञानस्वभावी रागादि से भिन्न स्वरूप होते हुए भी; और रागादि का स्वभाव से अकर्ता होने पर भी; भिन्न अकर्तास्वभाव के बेभानपने के कारण रागादिभाव अपने में (ज्ञान में) होते हुए प्रतिभासित होते हैं, अथवा स्वयं रागादिभाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

परंतु, स्वाभाव द्वारा रागादि किये नहीं जा सकते-ऐसे स्वरूप के भान में रागादि होवे उस समय में उसका ज्ञान रहता है; परंतु स्वयं कर्ता, कारयिता या अनुमोदक नहीं बनता।



सम्यग्दर्शन करने के बहाने, पुरुषार्थ करने के बहाने या उपयोग को स्वरूप में एकाग्र करने के बहाने-जीव का अनादि का पर्याय का कर्तृत्व चालु रहता है; तब तक जीव पर्यायबुद्धि है; और उन उन भावों से पर्याय का एकत्व मिटने की बजाय वृद्धिगत होता है।

**(१२) पर्यायमात्र का मैंने अवधारण :-** कुछ जीव अपने को सर्वथा अज्ञानी मानकर, अथवा आत्मशुद्धिरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र प्रगट करने में असमर्थ मानकर, अथवा स्वयं साधारण संसारीजीव है-इसलिये अध्यात्म की ऊंची बातें सुनते (ही) ऐसी कार्य-सिद्धि के लिये अपने को अयोग्य मानकर, प्रारंभ से ही वर्तमानस्थिति के आश्रय में रहकर, सम्यक् पुरुषार्थ होने में आड रखकर बैठ जाता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि या मुनिदशाकी साधना, गुण-महिमा आदि का श्रवण होने पर स्वयं अज्ञानी है... इसलिये इन बातों से स्वयंका कोई संबंध नहीं है, अपने को उन-उन बातों में कुछ लागु नहीं होता अथवा अपने लिये कार्य कठिन है-इस प्रकार पर्याय बुद्धि से उन-उन भावों से तथा भावनाओं से उपेक्षित होकर विमुख वर्तता है; तथा सांप्रदायिक-ओघसंज्ञा से की जा रही क्रियाओं में रसपूर्वक प्रवर्तता है।-यह वर्तमानपर्याय में 'मैं पने' की वजह से है।

पुनः, जीव को वर्तमान पर्याय में 'मैं पना' रहने से त्रिकाली स्वभाव में 'मैं पना' नहीं हो सकता है। इसलिये स्वभाव से अपने को जुदा कल्पना करके कृत्रिम प्रयत्न करता है। स्वभाव के महिमा की बात भी कोई दूसरे की बात हो... उस प्रकार से करता है। जैसे कोई सोचता है कि 'मुझे स्वरूप का



ध्यान करना है' वहाँ ध्यान करनेवाला किसी अन्य का ध्यान करना ऐसा प्रकार 'पर्याय में मैं पना' रहने की वजह से उत्पन्न होता है।

परंतु, ध्येयरूप 'स्वभाव में मैं पना' होने से पर्याय मेरा ध्यान करती है; पर्याय मेरे स्वरूप के आनंद का लाभ लेती है; तथा मेरे प्रति लीनता भाव करके-स्वरूप-निवास करती है; ऐसा पर्याय का ज्ञान शुद्धपर्याय प्रकट होनेपर अकर्तृत्वभाव से होता है... वहाँ पर्याय में कार्यसिद्धि होने पर भी पर्याय में एकत्व रहता नहीं / होता नहीं है।

इसके अलावा पर्याय में एकत्व के कारण और भी अनेक प्रकार के भाव होते हैं, वे लक्ष में लेने योग्य हैं; जैसे कि- मुमुक्षुदशा में तत्त्व-श्रवण तथा शास्त्र-वाचन से बहुत सारा जान लेने का अपेक्षाभाव (-लोभ) रहता है, और ऐसे लोभवशात् ज्यादा जानपने की वृत्ति के कारण-अभी ही-वर्तमान में ही स्वरूप आश्रय का प्रयास होना चाहिये, स्वभाव सुनते ही चोट लगनी चाहिये-ऐसा प्रकार उत्पन्न नहीं होता; और अनजाने में ऐसी जानपने की प्रवृत्ति से लाभ होने का अभिप्राय बंध जाता है; वह सत्य पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है; और तत्त्व-अभ्यास की बाह्य प्रवृत्ति में रुक जाता है-लगा रहता है-वहाँ सहज अंतर्मुख प्रयत्न का अभाव वर्तता है... उसे खेद भी नहीं होता- यह पर्यायमूढता का लक्षण है। इससे प्रवर्तित पर्यायभावों में मुर्छित हो जाने से, वहाँ से छूटकर स्वभाव पर नहीं आया जा सकता है। पुनः,

वेदन पर्याय में होने से जीव को अनादि से पर्याय अपने



रूप से / सर्वस्वरूप से भासित होती है। परंतु वह वस्तु का बदलता अंग है-अनित्य है-इसलिये व्यय हो जाती है। अस्थिरभाव में सर्वस्वपना स्थापित हो जाय... वहाँ स्थिरता कैसे हो ? इसलिये त्रिकाल स्थिर-ध्रुव-अभंगअंग-अपना सत्यार्थ शाश्वत स्वरूप है जो कि अनंत दिव्य गुणों से विभूषित होने से अनंत महिमावंत है... उसको स्वयं को पहचान कर... उसीमें लीन रहना योग्य है।





## आत्म-रुचि

जीव के परिणमन में जैसे ज्ञान की प्रधानता है, वैसे ही रुचि के परिणाम भी खास प्रकार का महत्त्व रखते हैं। परमार्थमार्ग में उस विषय को समझना महत्त्व पूर्ण होने से इस विषय में यत्किंचित विचारणा करने योग्य है, जिससे विराधक परिणामो से होता हुआ अहित न होवे और निजहित को साध सकें।

(भाव) दर्शनमोह का अनुभाग घटने से उत्पन्न जो आत्मा के निर्दोषता-पवित्रता प्रत्ययी सुहाते परिणाम को 'रुचि' कहने योग्य है; जो विकसित हो करके निर्दोष परिपूर्ण पवित्र आत्म-स्वभाव को ही विषय करती है या अनन्य भाव से चाहती है। इस तरह सुलटी रुचि से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, और इस विषय के सिवा अगर राग की, दोष की, पुण्य की, कषाय की, अनेक प्रकार के संसार के भावों की रुचि हो तो उससे मिथ्यात्व दृढ़ होता है। मुमुक्षुजीव की विधि-विषयक भूल नहीं रहे, यह इस विचारणा का खास हेतु है।

स्वभाव की 'यथार्थ रुचि' स्वभाव के भाव - भासनसे उत्पन्न होती है, और इसलिये स्वभाव का अनन्यभाव से भाना होता है। ऐसे रुचिवंत जीव को उदय के अनेक कार्यों के प्रसंग

पूर्वकर्म अनुसार रहेते है, उसवक्त उदय की प्रवृत्ति खटकती है और बोझारूप लगती है; ऐसे समय में अनेक कार्य करने पर भी जागृति और सावधानी उपरांत लक्ष्य, आत्मस्वभाव का ही रहा करता है, अर्थात् बाह्य प्रवृत्ति उपयोगरहित चक्षु के जैसी चलती है।

जैसे पतंगा दीपक की रुचिवशात् झपटकर दीपक में गिरता है, वैसे आत्मरुचि पुरुषार्थ के वेग को उत्पन्न करनेवाली होने से शिथिलता व प्रमाद को दूर करके, स्वभाव प्रति जोर करके उछलती है। रुचि में स्वभाव के सिवा दूसरा पोसाता नहीं। स्वविषय की प्राप्ति के बिना चले नहीं - ऐसी ही स्थिति यथार्थ रुचि में होती है; जहाँ दूसरा पोसाता है वहाँ रुचि (स्वविषयक) नहीं है, ऐसा समझने योग्य है। रुचिवान को आत्मकल्याण दूर नहीं है।

आत्म-रुचि स्वयं धर्म की पात्रता है। रुचिसहित के परिणाम सहज ही, वैराग्य और उपशम से सराबोर होते हैं। परन्तु यथार्थ रुचि बिना के शुभभाव भी लुखें और चंचलतावाले होते हैं।

आत्मरुचि बिना भेदज्ञान भी नहीं हो सकता। परलक्षी क्षयोपशमज्ञान में 'भेदज्ञान संवर का कारण होने से करने योग्य है-ऐसा समझने पर भी, रुचि के अभाव में भेदज्ञान नहीं होता। परन्तु आत्मरुचिवंत जीव सहज भेदज्ञान (राग की अरुचि होने से) करता है।

पुनः स्वरूपसाधना करने के इच्छुक कोई हैं। जीव बहिर्मुख प्रवर्तते उपयोग को पलटाकर अंतर्मुख करना चाहते है, लेकिन





अनादि से पर और राग की रुचि को पलटाये बिना उपयोग पलटकर अंतर्मुख होता नहीं।-यह मार्ग कि विधि का क्रम है, अथवा यथार्थ कार्यपद्धति है। अविधि से कार्य नहीं हो सकता; फिर भी करने का उद्यम करें तो मिथ्यात्व दृढ़ होता है। तात्पर्य यह है कि अंतर की रुचि बिना अंतर में जाया नहीं जाता।

आत्मरुचि के सद्भाव में स्वरूप प्राप्त करना सहज-सुगम लगता है। रुचि बिना 'वह' कठिन लगता है। अनुभवप्रकाश ग्रंथमें पूज्य श्री दीपचंदजी कासलीवाल ऐसा कहते हैं-'इस काल में स्वरूप का अनुभव कठिन है, ऐसा माननेवाला स्वरूप की चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है।' उक्त वचनामृत के आलोक में मुमुक्षु जीव को खुद को रुचि संबंधित परिणाम की जांच करने योग्य है।

स्वरूप की अरुचि के कारण - जीव मोक्षमार्ग को कठिन समझकर दूसरा सरल मार्ग अपनाता है, और उसी कारण उन्मार्ग में चला जाता है; ऐसे जीव को अध्यात्म-विषय का निषेध वर्तता है।

स्वरूप की अरुचि के कारण अन्य प्रवृत्ति संबंधित कुतूहल और राग रहा करता है, और अंतर्मुखता का पुरुषार्थ... 'बाद में करुंगा' ऐसे परिणाम रहते हैं।

आत्मकल्याण की इच्छा अनंतकाल में अनंतबार होने पर भी और तदनुसार बाह्य क्रिया करने पर भी स्वरूप की यथार्थ रुचि के अभाव के कारण ही उसमें सफलता नहीं मिली है। इसे ध्यान में लेने योग्य है।



स्वरूप-रुचि के कारण स्वरूप का बेहद आकर्षण रहता है; इसलिये बाकी सब सहजरूप से विस्मृत हो जाता है। अरे ! रुचि तो स्वयं अपने को भी भूलकरके प्रवर्तती है; और रुचि के विषय में कितना समय चला जाता है उसका भी ख्याल नहीं रहेता।

जिसको जैसी रुचि होती है, वह वैसी ही रुचिवाले का संग करता है। जिससे खुद की रुचि को पुष्टि मिले। और ऐसे ही निमित्तों की कृत-कारित-अनुमोदना करता है। अगर उसमें कोई बाधक बने तो उसके प्रति उसको द्वेष होता है। इस कारण से व्यक्ति की योग्यता-रुचि का नाप उसकी संगत पर से निकलता है।

मृत्यु के समय भी जिसकी रुचि होती है उस विषय की मुख्यतावाले परिणाम सहज ही उत्पन्न हो जाते हैं।

ऐसे दुष्मकाल में अध्यात्म की ऐसी सूक्ष्म बात रुचे, यह विशेषता है; उसे ज्यादा भव नहीं होते।

मिथ्यात्व तीव्र होने से जीव को दोष की रुचि होती है, तब वह खुद के दोष का बचाव / रक्षा करता है, और जिसका पक्ष होता है उसके दोषका भी बचाव / रक्षा करता है, फलस्वरूप सदाविचारबल का नाश होता है। जबकि दर्शनमोह का अनुभाव घटनेसे अथवा मिथ्यात्वरस घटने से जीव को गुण की / स्वभाव की रुचि उत्पन्न होती है, वह जीव सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। रुचि बाधक कारणों को फटाफट हटाकर के, खुद के विषय को ग्रहण करती है।

अनादि से (पर्याय का वेदन होने से) जीव पर्याय जितना



ही खुद को अवधारण करके पर्यायबुद्धि होता हुआ, पर्यायमात्र में रुचि के कारण मूर्छित होता हुआ पर्यायमूढ़ हुआ है; इसलिये उसको निश्चयस्वरूप की अरुचि वर्तती है। पर्याय की रुचि के कारण राग और पर की रुचि सहज होती है, जो सर्व प्रकार के दोष और दोष की परंपरा के सर्जन का मूल कारण है।

यथार्थ रुचि के सद्भाव में जीव के अन्य परिणाम भी तद अनुसार आत्मरसवाले होते हैं। साथ ही साथ ज्ञान में स्वभाव की मुख्यता-निश्चय का पक्ष अभेदभाव साधने का कारणभूत होता है। और सहजरूप से स्वरूप का चिंतन, मनन, भावना और लगनीवाला घोलन इत्यादि परिणाम उल्लसित भाव से और धगश से निरंतर चलते रहते हैं-जैसे कि रुचि सर्वगुणों के परिणामों को स्वभाव की ओर खींच के लाती न हो !

अंत में यह रुचि सम्यक्श्रद्धा की पूर्वभूमिका में कार्य करता हुआ परिणमन है। सम्यक्श्रद्धा स्वभाव - सत्ता को तादात्म भाव से ग्रहण करती है, जिसका प्रयास रुचि के काल में (Prestage of Getting Self Exestance) स्वसत्ता को ग्रहण करने की वृत्तिरूप वर्तती दशा के रूप में होती है।





## सत्पात्रता

पूर्व के तदनुकूल महत् पुण्य-योग से 'सत्पुरुष का योग' जीव को अनन्त काल में, दुर्लभ होने पर भी, अनेक बार हुआ है। परन्तु उस योग के महत्त्व को नहीं समझने के कारण और स्वयं की बोधजीव योग्य भूमिका व पात्रता नहीं होने से, वह योग / सत्संग निष्फल हुआ है। अतएव विषय-प्रवेश हेतु-निजावलोकनार्थ पात्रता व मुमुक्षु की यथार्थ भूमिका विषयक यत्किंचित विवरण यहाँ प्रस्तुत है -

जीव किसी बाह्यक्रिया-कांड से या शास्त्र-पठन से मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता है, एकमात्र 'पात्रता' से ही पाता है। अतः पात्रता का महत्त्व समझना योग्य है।

मुमुक्षु जीव-विचारवान जीव को सर्व प्रथम इस अति महत्त्व के विषय का गंभीरता से सांगोपांग विचार-मंथन कर, इसका यथातथ्य मूल्यांकन कर, सर्व उद्यम से पात्रता में आना योग्य है; तभी मार्ग-प्राप्ति सुलभ होगी, मार्ग-प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है।

कोई भी जीव जब निज-हित के लिए तत्पर होता है तो उसे पात्रता शीघ्र प्रगट होती है, तदर्थ कोई पूर्व क्रम नियत नहीं है, यह इस मार्ग की बहुत बड़ी सुविधा है। 'निज-



हित की जितनी जरूरत-उतनी पात्रता विशेष'-यही पात्रता का परिमाण है। पात्रता के लक्षण :-

१. जिसे एकमात्र निजस्वरूप के अतिरिक्त जगत से कुछ भी नहीं चाहिए-यह विशिष्ट प्रकार की पात्रता है।

२. सत्पुरुष के चरणों का इच्छुक, एकनिष्ठासे सत्पुरुष की आज्ञा शिरोधार्य करनेवाला ही वर्तमान पात्र है।

३. क्षयोपशमज्ञान से सम्मत किये बोध को शीघ्र प्रयोग में लानेवाला भी वर्तमान पात्र है।

४. 'स्वभाव' सुनते ही रुचि को पोषण मिले, वृद्धि होवे। स्वभाव को प्राप्त किये बिना कहीं भी चैन न पड़े, सुख न लगे, उसे लेकर ही छोड़े-ऐसी वृत्तिवाला जीव वर्तमान पात्र है।

५. पात्र जीव को स्वरूप विचार, चिंतन आदि चलने पर भी स्वानुभव के अभाव की खटक और असंतोष बना रहता है।

६. अनेक प्रकार के मोहासक्ति जन्य परिणाम होने पर उनमें उलझन का अनुभव होना यह पात्रता का सूचक है।

७. गुण से उत्पन्न सुख की रुचिवाला और गुणग्राही।

८. उदयभाव में कहीं न रुचे, इसलिए उदयभावों में जोर - उत्साह का अभाव।

९. जिसको दर्शनमोह मंद (शिथिल) होने से पदार्थ के यथार्थ निश्चय करने की क्षमता प्रगट हुयी है।

१०. शास्त्रवचनों की यथार्थ जानकारी सहित यथायोग्य स्तर के व्यवहार-परिणाम होने पर भी उनका रस न चढ़ जावे,



ऐसी जाग्रति वर्तती हो।

११. जगत की मान-सम्मानवाली वस्तुओं और बातों-प्रसंगों की महिमा जिसे न आती हो।

१२. उपकारी सत्पुरुष के प्रति अत्यंत भक्तिवंतता।

१३. विषय-कषाय के तीव्र-अहितरूप परिणाम होने पर जिसे घबराहट होती हो।

१४. प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत विषयों का अन्तर समझने की क्षमता वाला।

१५. अप्रयोजनभूत विषयों के प्रति उपेक्षा-उदासीनता वर्तती हो व प्रयोजनभूत विषयोंकी गहराई से गवेषणा हेतु तत्परवृत्तिवन्त और निज प्रयोजन को सिद्ध करने का पुरुषार्थी।

१६. प्रतिकूल प्रसंग में जिसके परिणाम खराब-कुमार्गगामी न हो और सहज आत्महित में जाग्रत रहे।

१७. भवभ्रमण-भीतिवन्त अर्थात् स्वयं के प्रति (जन्म-मरण के दुःख की) जिसे दया (स्वदया) उत्पन्न हुयी हो।

१८. आत्म-लक्ष्यी परिणामवाला।

१९. भावना-प्रधान परिणामवाला, अर्थात् भीगा हुआ-सिक्त हृदयवन्त-स्वरूप की अपूर्व भावनावाला।

२०. मध्यस्थ-निष्पक्ष ज्ञान का गवेषी व मात्र सत्य का आग्रही तथा अभिलाषी।

२१. स्वरूप-भावनापूर्वक अन्तर में मार्ग का शोधक-भवचक्र से छूटने के मार्ग की शोध करनेवाला।

२२. स्वयं की गुरुता का गोपन करनेवाला।

२३. उदय - प्रसंगों में अपना समय बरबाद न करनेवाला।



२४. परमार्थ की बात सुनते ही चोंट-गहरी चोंट लगनेवाला।

२५. निरन्तर सत् की शोधकवृत्तिवाला।

२६. भव का अभाव किये बिना आयु व्यतीत होने की चिंता-खेद के परिणाम होना।

-इसके अतिरिक्त मुमुक्षु की यथार्थ भूमिका, जो धर्म-प्राप्ति के लिए अति महत्त्वपूर्ण है, विषयक लक्षणों का विवेचन स्वहितार्थ अवगाहन हेतु यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत है :-

१. जिसे एक मात्र मार्ग-प्राप्ति का ही लक्ष्य हो।

२. जिसे अनन्त जन्म-मरण से-परिभ्रमण से मुक्त होने की वेदना सहित अपूर्व जिज्ञासा उत्पन्न हुयी हो।

३. जिसका संयोगी पदार्थों की प्राप्ति का ध्येय न हो; परन्तु परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशा प्राप्त करनेका ध्येय हो।

४. अन्तर की गहराईमें से स्वरूप प्राप्ति की अपूर्व भावना, जिसकी उत्पत्ति में कोई राग-द्वेष की भूमिका न हो-ऐसी वीतरागी भाव - भूमि का (अभिप्राय) के आधार से उदित हुयी भावनावाला।

५. पूर्णता के ध्येय-प्रति पूरी लगन से प्रवर्तन करना।

६. अत्यन्त उत्साह और दृढ़ निश्चयपूर्वक आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाला।

७. 'पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत' के अभिप्रायसे निज-प्रयोजन के प्रति सहज, सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टिपूर्वक प्रवृत्ति होना।

८. सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका में-स्वभाव-अनुलक्ष्यी उच्चकोटि के शुभ विकल्प होने पर भी, अनुभूति का अभाव होने से, अन्तर में उसकी खटक रहना।



९. परिणति में राग-रसरूप रंजितपना घटने से व दर्शनमोह-रस शिथिल होने के कारण-मुमुक्षु के योग्य भूमिका का ज्ञान निर्मल होने से, सत्पुरुष के वचनों-शास्त्र वचनों के अवगाहन में यथार्थता, अध्यात्मतत्त्व का रस और रुचि आदि का होना।

१०. स्वकार्य की उत्कण्ठा।

११. उदय-कार्य बोझारूप लगे। प्रवृत्ति करनी पड़े तो उसमें त्रास / थकान लगे और अरुचि के कारण उदय जनित परिणाम का बल मन्द होता जाए।

१२. सत्समागम में प्रयोजनभूत विषय आनेपर रस वृद्धिगत हो जाए।

१३. अन्तर-संशोधन-अन्तर-अवलोकनपूर्वक तत्त्वज्ञान का अभ्यासी।

१४. 'इस जगतमें से कुछ भी नहीं चाहिए, मात्र एक आत्मा ही चाहिए'-ऐसा दृढवृत्तिवंत।

१५. तत्त्वज्ञान-समझन / वाच्यको शीघ्र प्रयोग की सान (कसौटी) पर चढ़ाकर, अपनी समझ को यथार्थ करने में रत रहना।

१६. उदय के कार्यों में (करने पड़े, उनमें) अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो रहा है-ऐसा लगना / अभिप्राय रहना।

१७. वर्तमान परिणमन में मार्ग की समीपता आदि विकास होने पर भी, पूर्णता का लक्ष्य होने से, उससे संतोष नहीं हो; बल्कि प्राप्त गुण गौण हो जायें और उच्च दशा / पूर्णता की अभिलाषा तीव्र होती जाए।

१८. गुणों की ही महिमा और मुख्यता रहे।





१९. स्वरूप की गहरी जिज्ञासावश सर्व उदयप्रसंगों में चित्त न लगना और नीरसवृत्ति रहना।

२०. तीव्र और गहरी रुचिपूर्वक प्रयोजनभूत विषय को सूक्ष्म उपयोग से ग्रहण करनेवाला।

२१. मूल वस्तुस्वरूप को गहन मन्थनपूर्वक समझने की पद्धति से जिसकी आत्मरुचि पुष्ट हो।

२२. सत्पुरुषों के वचनों में सन्निहित अनुभव की विधि की गम्भीरता को गहन चिंतनपूर्वक शोधने की वृत्तिवाला हो और जिससे सत्पुरुषों के वचनों में छिपे हुए पारमार्थिक रहस्य को समझने की क्षमता हो। सत्पुरुषों की अन्तर परिणति की पहचान से जिसे उनकी महिमा हृदयंगम हुई हो।

२३. सम्पूर्ण शक्ति द्वारा (शक्ति का गोपन किये बिना) समग्ररूप से, वेग से, उल्लासपूर्वक प्रयत्नवान / पुरुषार्थी।

२४. भेदज्ञान का प्रयास करनेवाला हो, और जब उसे विकल्पमात्र में अन्तर से दुःख का वेदन होने लगा हो, और उसके परिणाम में आत्मस्वभाव के विकल्प से भी हटने का ढलन उत्पन्न हो गया हो। (-यह स्थिति अनुभव के समीपवर्ती जीव की होती है।)

२५. उदयभाव भाररूप लगे, जिससे किसी भी प्रसंग में उसे कहीं न रुचता हो।

२६. स्वकार्य 'पीछे करूँगा'-ऐसा प्रकार परिणाम में न रहना; बल्कि अभी ही होता हो तो... बिना विलम्ब किये तत्पर होना, अर्थात् शीघ्रता-सावधानी में 'पीछे करूँगा'-ऐसा अरुचिसूचक प्रकार का न होना।



२७. प्रत्यक्ष-योग में सत्पुरुष के सर्व विकल्प का अनुसरण करने का भाव रहे, एक निष्ठा से आज्ञा का आराधन करने के भाव रहे, अर्थात् सर्वार्पणबुद्धि से वर्तता हो।

२८. स्वयं को गुण-प्राप्ति की अभिलाषा होने से-अन्य में गुण दिखलाई दें... तो उसके प्रति सहज प्रमोदभाव होना।

२९. अन्तर में निवृत्त होकर स्वकार्य करने का संकल्पी व उत्साही।

३०. सैकड़ों-हजारों विकल्पों की परम्परा का मूल (सर्जक) अब्रह्मचर्य है, अतएव विकल्प-जाल की वृद्धि रोकनेवाले-ऐसे ब्रह्मचर्य की चाहवाला।

३१. अपने दोष टालने के दृष्टिकोणपूर्वक-अपने दोष को अपक्षपातरूप से देखने की प्रवृत्ति होना। ज्ञान में ऐसी मध्यस्थता हो कि जिससे स्वच्छन्द उत्पन्न न हो सके।

३२. जिसे एकान्तवास प्रिय हो। (क्योंकि बहुजन परिचयवृत्ति आत्म-साधना के प्रतिकूल है।)

३३. आहार-विहार-निहार का नियमी हो-जिसके कारण देहाश्रित-बाह्यभाव नियमित (मर्यादित) हों। उपर्युक्त विषय में अनियमितता-तीव्र राग-रस को लेकर सहज प्रवर्तती है-ऐसे प्रकार का अभाव हो; क्योंकि 'आत्मार्थी सहज वैराग्यवान होता है।'

३४. आत्मार्थी जीव सामान्य जनों से विशेष योग्यतावान होने पर भी वह मान-प्रसिद्धि से दूर रहना चाहता है और अपनी महत्ता का सहज गोपन करता है।

३५. जिसे मोक्ष और मोक्षमार्ग का महत्त्व वास्तविकरूप में समझ में आया हो। (चारोंगति के सर्व दुःख से निवृत्ति



और अनन्त समाधिसुखरूप मोक्षदशा की व उसके साधनरूप मोक्षमार्ग की कीमत समझकर जिसे उनके प्रति आदरबुद्धि उत्पन्न हुई हो।)

३६. आत्म-जाग्रति का उत्पन्न होना, अर्थात् जाग्रतिपूर्वक निजभावों का सूक्ष्मरूप से अवलोकन होने से पर-रस / राग-रस में कभी होना।

३७. शास्त्रों में आनेवाले सभी न्यायो व अनेक अपेक्षित कथनों और विभिन्न प्रकार की कथन-विवक्षाओं को निज-प्रयोजन की दृष्टिपूर्वक समझने की पद्धतिका होना। (जिससे समझ में विपर्यास या अन्यथापन न हो सके।)

३८. स्वकार्य करने की छटपटाहट-तड़फन के कारण अन्य उदयमान प्रसंगों में निरुत्साहीभाव से जुड़ना / भाग लेना।

३९. गति-निःशंकता, अर्थात् आगामी भव में नीच गति-नरक या तिर्यच होने संबंधी शंका भी जिसे न पड़े, अपितु स्वयं की मुक्तदशा की योग्यता विषयक निःशंकता वर्ते।

४०. जिसे अन्य द्रव्य-भाव में सुख की कल्पना का स्वरूप / कारण भलीभाँति समझ में आया हो, और तदर्थ निवृत्ति हेतु प्रयत्नवान हो; जिससे जगत के किसी पदार्थ में गहरे-गहरे तनिक भी सुख की कल्पना / वासना न रह-जाये अथवा कोई भी इन्द्रिय विषय की 'अपेक्षा' परिणति में न रहा करे। वैसे ही शुभपरिणामों में या सातावेदनीय के उदय काल में 'आश्रयबुद्धि' न रह जाये।

४१. 'स्वच्छन्द' महादोष है, जो आत्मार्थी की भूमिका को नष्ट करनेवाला है-जिसके लक्षणों को अनेक पहलूओं से



समझकर-उनको टालने का, अथवा उस प्रकारके (स्वच्छन्दजन्य) परिणाम जिसे न रहते हों उनका, यत्किंचित् विवरण निम्न है :-

(i) पर-लक्ष्यी शास्त्रज्ञान के क्षयोपशमवश 'मैं समझता हूँ'-ऐसा अहंभाव, तथा इस प्रकार के अहंभाववश ज्ञानी के बचनों की तुलना अपने सदृश करनी।

(ii) स्वयं के दोष का पक्ष / बचाव करना अथवा अन्य के दोष का राग-ममत्ववश पक्ष / समर्थन / बचाव करना।

(iii) सत्पुरुष के वचन में भूल देखने या भूल ढूँढने के परिणाम होना।

(iv) सत्पुरुष के वचन में शंका होना।

(v) 'मान-प्रकृति'-जहाँ-जहाँ मान प्राप्त हो वहाँ-वहाँ आकर्षण रहे या रुचे। मानार्थ-मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होना। समाज की मुख्यतावश आत्म-साधन गौण करना (इसे शास्त्र में लोकदृष्टि बताया है।) जहाँ बहुमान हुआ हो या होता हो उस समूह में अपना मान-स्थान बना रहे-ऐसा अभिप्राय या परिणति रहे। तदनुसार शुभ (?) अथवा अनैतिक-अशुभ प्रवृत्ति स्वच्छन्द तीव्र होने पर होती है।

(vi) सत्पुरुष के उपकार की अवहेलना करना।

(vii) सत्पुरुष के वचनमृत-प्रति अचल प्रेम का अभाव होना।

(viii) विद्यमान सत्पुरुष के प्रति परम विनय-अत्यन्त भक्ति का अभाव। (मात्र सामान्य विनय भी योग्य नहीं है।)

(ix) सत्पुरुषों के उदयभावों-प्रवृत्तियों का लक्ष्य कर-उस सम्बन्ध में अपने समान कल्पना करना।



(x) सत्पुरुष के बाह्य आचरणमें से चारित्रमोहजन्य दोषको मुख्य करना।

(xi) बाह्यज्ञान-शास्त्र की धारणा के प्रति प्रेम / झुकाव / मुख्यता होना। (इससे मार्ग की अन्तर में सूझ नहीं पडती है।)

-उपर्युक्त प्रकार के परिणाम स्वच्छन्दताकी तीव्रता या मन्दता की विद्यमानता के द्योतक है।

४२. असरलता, हठाग्रह और जिद आदि के परिणाम न रहना। क्योंकि परम सरलतारूप अन्तर्मुखी बलन में असरलतादि भाव अवरोधकरूप है।

४३. क्षयोपशम विशेष हो तो भी बड़प्पन की आकांक्षा नहीं रहे।

४४. परम्परा और क्रियाकांड का आग्रही न हो।

४५. ज्ञानी के वचनों का कल्पित अर्थघटन नहीं करना।

४६. सत्पुरुषसे विमुख वर्तन किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं हो, तदर्थ अपकीर्तिभय-समाजमय आदि सर्व को गौण करे। इस संदर्भ में पूज्य श्रीमद् राजचन्द्रजी का उपेदशामृत उल्लेखनीय है-प्रत्यक्ष सत्पुरुष से विमुख वर्तना अथवा उपेक्षितभाव से वर्तना, यह प्रगट 'अनन्तानुबन्धी कषाय है।'

४७. प्रमाद, अर्थात् स्वकार्य हेतु उल्लसित वीर्य का अभाव रहना-ऐसे में परिणाम ऊपर-ऊपर से तो शांत (कषाय की मन्दतावाले) दिखाई देते हैं, पर वे कषाय के भार से प्रमादी है।-ऐसे प्रमादी परिणाम न रहना।

४८. शास्त्र-अध्ययन, तत्त्व-श्रवण, तत्त्व-चर्चादि में ऐसा प्रकार



न हो कि जिससे विकल्प वृद्धिगत हो जाएँ; और अधूरा निश्चय, अपरिपक्व विचारदशापना, शंकाशीलता या विभ्रम उत्पन्न हो, कुतर्क सूझे या भावों में डाँवाडोलपना / चंचलता रहे।

४९. लौकिक और शास्त्रीय अभिनिवेश से दूर रहे, जिसका स्वरूप निम्न है :-

(i) लौकिक अभिनिवेश :- लोक में जो-जो वस्तुएँ या बातें बडप्पन के साधनरूप कारणों में गिनी जाती हैं-उनमें माहात्म्यबुद्धि होना लौकिक अभिनिवेश है।

(ii) शास्त्रीय अभिनिवेश :- आत्मार्थ के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार की शास्त्रीयमान्यता-शास्त्रज्ञान-धारणाज्ञान आदि में संतुष्ट होना अथवा अप्रयोजनभूत विषयक ज्ञान से अपनी महत्ता-पोषण से आत्मार्थ गौण हो जाना-(प्रशस्त) शास्त्रीय अभिनिवेश है। और विद्यमान सत्पुरुष के समागम को गौण कर अपने शास्त्र-अध्ययन की तुलना तद्समान करना अथवा शास्त्र को ऊँचे गुणस्थानवर्ती पुरुष के वचन मानकर, विशेष वजन देना-(अप्रशस्त) शास्त्रीय अभिनिवेश है। (उल्लेखनीय है कि यहाँ शास्त्र की मुख्यता होते हुए भी 'अप्रशस्त' विशेषण लगाना, वचन-गम्भीरता है। क्योंकि ऐसे भावों में वर्तनेवाले जीव को अवश्य ही कोई न कोई अप्रशस्त (लौकिक) प्रयोजन (आशय) प्रवर्तता है।-ऐसा ज्ञानीपुरुषों का आकलन / निर्धारण-विशिष्ट विधान है, जो सिद्धान्तरूप है।

५०. ज्ञानस्वभावी आत्मा 'मात्र ज्ञान' से ही ग्राह्य है / अनुभव योग्य है। इसके सिवाय अन्य कारण से-कोई भी प्रकार के शुभराग या पराश्रित बाह्यज्ञान से ग्रहण योग्य नहीं है। अभिप्राय में उक्त 'विधि' विषयक तनिकसा भी अन्तर हो तो



वहाँ विपरीत अभिनिवेश हो जाता है। परन्तु यथार्थता में 'विधि' सम्बन्धी विपरीतता नहीं रहती है।

५१. 'विपरीतता का परिहार होने पर ही यथार्थपने की सिद्धि, अर्थात् उपलब्धि होती है'-जिसकी जाग्रति सतत रहे, अर्थात् विपरीत अभिनिवेश रहित पूर्वक देव-गुरु को-शास्त्र-सत्पुरुष के प्रति वर्तन रहना। इसी भाँति अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि अथवा एक तत्त्व में अन्य तत्त्व का अध्यास (अन्यथा भासित होना) विपरीत अभिनिवेश को प्रदर्शित करता है। परन्तु यथार्थता में ऐसा प्रकार नहीं होता है। उसे तो-

कुदेव में देवबुद्धि-लाभबुद्धि नहीं होती। सर्वज्ञ व उनकी प्रतिमाजी की स्थापनादि के प्रति अनादर, अविवेक या निषेध नवकोटिपूर्वक नहीं आता। क्योंकि कोई भी लौकिक कारणवश उनके निषेध-अवगणना के भाव में तीव्र मिथ्यात्वरूप महादोष उत्पन्न हो जाता है।

ऐसे ही भावलिंगी गुरु के अतिरिक्त किसी में भी गुरुबुद्धि नहीं होती है। द्रव्यलिंगी या लिंगाभासी अथवा अन्यलिंगी के प्रति पूज्यबुद्धि-धर्मबुद्धिपूर्वक किसी भी योग से प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति विपरीत अभिनिवेश-सूचक है।

इसी भाँति सत्शास्त्र और कुशास्त्र का विवेक वर्तता है। कुशास्त्र, अन्यमत के शास्त्र अथवा मिथ्यादृष्टि द्वारा रचित शास्त्र के प्रति श्रद्धाविनय रखकर, सत् शास्त्र पढे-सुने तो वह भी विपरीत अभिनिवेशयुक्त प्रवृत्ति है।

इसी प्रकार सत्पुरुष के प्रति श्रद्धा-विनय रखते हुए भी असत्पुरुष में, उनके वचन में श्रद्धा-विनय करने से अयथार्थता,



अर्थात् विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होती है। परन्तु यथार्थ भूमिकावाले का ऐसा वर्तन नहीं होता है।

५२. संदिग्ध अवस्था का न रहना। संदिग्ध अवस्थावश-ज्ञानप्राप्ति हेतु अनेक ग्रन्थों के अध्ययन से कई प्रकार के संदेह का उद्भव होता है, फलस्वरूप प्रयोजनभूत विषय के प्रति लक्ष्य नहीं जा पाता है; प्रायः अप्रयोजनभूत विषय पर वजन रहता है और उन्हीं में उलझ / अटक जाता है। संदिग्ध अवस्था की स्थिति में-सत्पुरुष का प्रत्यक्ष समागम होते हुए भी उनकी पहिचान नहीं हो पाती। गहरे गहरे सत्पुरुष के मन-वचनकाययोग-उदयजन्य परिणाम के प्रति संदेह (शल्य) रहता है, अथवा कहीं कोई अविश्वास- अप्रतीतियोग्य बात लगती है, खटकती है।

५३. ज्ञान के भेद-प्रभेद में (-गुणभेद-पर्यायभेद, अनेक प्रकार के न्याय, नयज्ञान, कर्मबन्ध-उदय-सत्ता आदि के भेदों में) रुचि होने से 'अभेद'-'परमार्थ' विषय में रस न उत्पन्न होना-ऐसा प्रकार जिसे न हो।

५४. शास्त्र के धारणाज्ञान-बाह्यज्ञान से स्वयं में ज्ञान-प्राप्ति मान लेना, सम्यक् परिणमन के अभाव में भी स्वयं की महत्ता-विशिष्टता मानना अथवा अन्य कोई ऐसा माने (वर्तन करे) तो रुचना और अपने ज्ञान के प्रदर्शन के भाव रहना-इत्यादि प्रकार का अतिपरिणामीपनारूप दोष जिसे न प्रवर्तता हो।

५५. ज्ञान के क्षयोपशम में निश्चय-व्यवहार आदि समझ में आने पर भी जहाँ तक मार्ग की विधि स्वयं को ग्रहण न हो अथवा साक्षात् अनुभूति न हो वहाँ तर जिज्ञासा का





अभाव न वर्ते।

५६. देव, गुरु, शास्त्र और सत्पुरुष विषयक किसी भी प्रवृत्ति में स्वयं के मानका लक्ष्य न रहे, न होवे। पूज्य श्रीमद्जी का वचनामृत अनुकरणीय है- 'निंदा प्रशंसार्थ विचारवान जीव प्रवृत्ति न करे।'

५७. क्रिया-सम्बन्धी मिथ्या आग्रह न हो कि जिससे असत् अभिमान अर्थात् देहात्मबुद्धि दृढ़ हो जाए और व्रत-संयमादि की दैहिकक्रिया को आत्मक्रिया समझ लेने से असत् में सत् का अध्यास हो जाए। अथवा मानार्थ कोई बाह्यक्रिया की प्रवृत्ति न हो।

५८. बाह्य अनुकूलता (पुण्य के फल) की अभिलाषा से अथवा सिद्धि मोहरूप-निदान-भावपूर्वक क्रिया नहीं करे।

५९. वहिर्लक्ष्यी जानकारी हेतु अथवा अन्यथा प्रकार से तत्त्व का ग्रहण होने से अकेला (भाव-भासन य ज्ञान-रस बिना का) अध्यात्मचिंतवन अर्थात् शुष्क आध्यात्मिकता-सिर्फ विकल्प और अध्यात्मभाषा-शैली का रस या वाणी का रस है-पौद्गलिक-रस है, जो कि अध्यात्म का व्यामोह है। यथार्थभूमिकावाले को ऐसी अयथार्थता नहीं होती।

-उपर्युक्त सर्व विवेचन का तात्पर्य यही है कि कहीं अंश मात्र भी विपर्यास नहीं रहे, ऐसी पूर्व भूमिका 'महान सम्यक्त्व' योग्य होना अपेक्षित है। क्योंकि 'पात्र के विना वस्तु नहीं रहती, पात्र में ही आत्मज्ञान होता है।'-इसी गहन तथ्य का निर्देश स्वानुभव-विभूषित प्रशममूर्ति धर्मात्मा पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन ने अपने एक पत्र में किया है, जो अवधारणीय है- 'हम लोग समक्ति...

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ  
 समक्ति तो करते हैं परन्तु योग्यता व पात्रता के बिना समक्ति  
 किसमें समायेगा ? अतएव सुस्पष्ट है कि पात्रता और यथार्थ  
 भूमिका में आये बिना सम्यक्त्व-प्राप्ति की आशा निरर्थक है,  
 आकाश-कुसुमवत् है।





## स्वाध्यायपद्धति

मुमुक्षुओं को सत्संग के हेतु सामूहिक स्वाध्याय कर्तव्य है-ऐसी ज्ञानियों की सीख है। परन्तु सामूहिक स्वाध्याय में क्षयोपशम विशेष को लेकर समझनेवाला और समझनेवाले का प्रकार उत्पन्न होता है इसलिये सामूहिक स्वाध्याय के प्रसंग में लेने योग्य कुछ एक अगत्य के मुद्दे निम्न प्रकार से है।

(१) सम्यक् पहले उपदेशक भाव से या पद्धति से वाचन करने में, मार्ग का विरोधपना है। क्योंकि-सर्वोत्कृष्ट उपदेशक जगद्गुरु श्री तीर्थकरदेव है और उनके बाद ज्ञानादि ऋद्धिवंत आचार्य-गणधरदेवादि निर्ग्रन्थ गुरु है।-गौणपन ने गृहस्थी सत्पुरुष है। परन्तु चौथे-पांचवें गुणस्थानवर्ती को सर्व विरती नहीं होने पर भी-पूर्णता का उपदेश देने की प्रवृत्ति विरोधाभासी दिखाव होने के कारण खुद को खटकती है-ऐसा है; वहाँ मुमुक्षु को अभी मार्ग की, आत्मा की, तत्त्व की और ज्ञानी की पहचान नहीं है, उसको उपदेशक पद्धति न आ जाय उसकी कितनी सावधानी रखनी चाहिये ? यह विचार ने योग्य है।

(देखो : 'श्रीमद् राजचंद्र' पत्रांक : ८३७)

(२) परमार्थमार्ग के अनुसरण के हेतुभूत ऐसे सत्पुरुष प्रति प्रमोदभावना, अविरोधभाव, भक्ति आदि होने के लिये सत्पुरुष

के गुणग्राम करना, उनके वचन ग्रहण करने की आत्मवृत्ति उत्पन्न हो, आश्रय में रहने की भावना हो,-इस प्रकार से स्वाध्याय करना।

(३) स्वाध्याय का मुख्य विषय : मुमुक्षु की ज्ञानप्राप्ति के लिये यथार्थ भूमिका-पात्रता पर वजन देना। वाचनकार को 'स्वलक्ष से'-उस विषय के रस का आविर्भाव करने से खुद को उपकारी होगा-इस हेतु जिस किसी ग्रंथ में पात्रता का विषय आया हो उसका अनेक पहलू से परिचर्यन करना।'

(४) वाचनकार की योग्यता :

(१) आजीविका या किसी लौकिक कार्य की अनुकूलता की इच्छा (आशा-प्रयोजन-लोभ) अंदर में न हो; तीव्र लोभी तो न ही हो।

(२) व्यवसाय आदि कार्यो में लोकनिंदा कार्यो की प्रवृत्ति न हो-लोकमर्यादा में वर्तता हो।

(३) अनेक प्रकार से पात्रता हो। (आत्मार्थीता, सत्पुरुष के प्रति भक्तिवंत इत्यादि।)

(४) अध्यात्मरस-शांतरस प्रधान मृदुभाषी हो। मर्मज्ञ अथवा मर्म-जिज्ञासा प्रधान हो।

(५) धर्म बुद्धिमान हो, सिर्फ परंपरा चलाने हेतु वाचन न करे।

(६) सप्तव्यसनादि निंघ कार्यो का त्यागी और अनीति का त्यागी।

(७) शास्त्र-सिद्धांत का मर्म-वीतरागता-स्वभाव की स्वतंत्रता को समझता हो।



(८) तर्क लडाके, वाद-विवाद का अभिप्राय न हो। हास्य न हो।

(९) स्वयं का जानपना दिखाने का अभिप्राय न हो।

(१०) वाचन में सुना सकेंगे-इस हेतु से धारणा न करें।

(११) अध्यात्मविद्या का रसिक, संसार रस, लौकिक विद्या का रस छूटा हो।

(१२) जैनमुनि / आचार्य / श्रीगुरु के उपदेश को कहनेवाला हो।

(१३) मानादिक से दूर रहनेवाला हो। समाज तो मान देगा-जबरदस्ती करें तो वहां जागृत रहे। तीव्र मानी तो होना ही नहीं चाहिये।

(१४) स्व-पर हित का लक्ष रखकर बोलें। कषाय रखकर, या किसीको लक्षमें रखकर मत्सरभावसे न बोलें-मात्र खुद के आत्मार्थ के लिये वाचन करे।

(१५) जैन धर्म का-देव-शास्त्र-गुरु-सत्पुरुष का दृढ श्रद्धालु हो तो ही ऐसी दृढ़ता व्यक्त हो और अन्य को श्रद्धालु बना सके।

(१६) शास्त्रों के कथनों की विवक्षा-निश्चय-व्यवहारादि समझने की शक्ति हो। व्याख्यान के अभिप्राय को न पिछाने तो कहनेवाले का प्रयोजन न समझे और अन्य प्रयोजन बताकर विपर्यास खडा करें-विसंवाद खडा हो जाय।

(१७) ज्ञानाभ्यासी हो। शास्त्र वाचन के योग्य बुद्धि प्रकट हुई हो।

(१८) 'कहीं भी सिद्धांत टुटे तो जिनाज्ञा भंग हो जाय'



उसका बहुत भय हो, ऐसी जिम्मेदारी समझता हो। सूत्र-विरुद्ध कथन करने से बहुतों का बुरा हो जायेगा, खुद की ऐसी क्षति के कारण अपकार होगा-ऐसा जोखिम समझकर, भवभीरू हो।

(१९) तीव्र क्रोधी हो तो थोड़ी प्रतिकूलता भी चला नहीं सके-इसलिये निंदा के पात्र होता है।

(२०) अलग अलग किसी भी प्रकार के प्रश्न आने पर-वहाँ विचारपूर्वक शांति से, मिष्टवचन से, संदेह-परेशानी दूर हो-इस प्रकार समाधान करे। उत्तर न दें सके तो खुद के अज्ञान को छीपायें नहीं, छीपाने के लिये अन्यथा या विरुद्ध उत्तर नहीं दे।

(२१) शांत व्यक्तित्व और गुणवानपने से समाज में प्रिय हो।

(२२) कठोर प्रश्नकार को धीरज से सहन करनेवाला हो। प्रश्नकार के अभिप्राय को पकड़कर प्रश्न के पहले ही उत्तर के लिये तैयार हो।

(२३) न्याय-व्याकरणादि से महान शास्त्रों का ज्ञान अगर हो तो ज्यादा अच्छा।

(२४) बातचीत-वर्तन में सदाचार, सरलता, विनय रखना चाहिये।

- (२५) (A) नीरसता के हेतु सादा आहार लेना।  
 (B) पर्वप्रसंगों में, तिथि में हरी सागसब्जी का त्याग।  
 (C) रात्रिभोजन का त्याग।



(२६) वाचन में अन्य की टीका से दूर रहना। खुद के घर की छोड़कर दूसरे के घर की बात करने का रस नुकसान करता है; यह लक्ष में रखना।

(२७) शास्त्र के चलते हुए विषय से विषयांतर नहीं करना, विषयांतर न हो जावे (कोई दूसरे विषय में विषयांतर करने का प्रयत्न करे तो भी) उसकी जागृति-सावधानी रखना।

(२८) (सम्यक्दृष्टि के चारित्रमोह के) चक्रवर्ती आदि के दृष्टांत से विषयकषाय को अनुमोदन-पोषण मिले ऐसी पद्धति से प्रतिपादन न हो वह ध्यान में रखना।

(२९) स्वरूप अनुसंधान-शुद्ध स्वभाव के अनुसंधान के प्रयत्न के साथ अध्यात्मविषय में प्रवेश करना-जिससे स्व-पर को अध्यात्मतत्त्व का रस उत्पन्न होने का कारण बने।

(३०) श्रोताओं की प्रशंसा मिले, उन लोगों की नजर में विशिष्ट स्थान पैदा हो, वे लोग प्रभावित हो ऐसी दृष्टिरूप लोकसंज्ञा छोड़कर वाचन करना।

(३१) मात्र रटा हुआ-धारणाज्ञानवाला-नीरस वक्तव्य नहीं होना चाहिये।

(३२) अगंभीरता से वाचन नहीं करना अथवा अगंभीरता से सदाचाररूप क्रिया के निषेधात्मक वचन करते समय शुद्ध भावक्रिया का स्थापन करना अथवा ज्ञान-क्रिया की सुसंगतता का स्थापन करना-जिससे कहीं भी एकांत में न सींच जाये, स्वच्छंद न हो जाय।

(३३) किसी भी स्तर के सिद्धांत का स्थापन करनेपर, संभवित विकृति उत्पन्न हो-उसके भयस्थान इंगित करना।



निश्चयाभास, व्यवहाराभास, उभयाभास एवं अन्य प्रसिद्ध सिद्धांत अन्यथा ग्रहण होने पर विकृति उत्पन्न होती है, उसकी चर्चा करना।

(३४) पुरुषार्थप्रधान और भावनाप्रधान वक्तव्य रखना।

(३५) दृष्टांत को बहुत बड़ा-चढ़ाकर नहीं कहना उससे प्रायः सिद्धांत प्रतिका जोर कम हो जाता है-इसलिये सिद्धांत पर एकाग्र होना-वजन जाना चाहिये।

(३६) वर्तमान में उपकार हो ऐसे प्रयोजनभूत विषय की मुख्यता करना-अप्रयोजनभूत विषय की मुख्यता नहीं करना इत्यादि।

(३७) वाचनकार को स्वयं का स्वतंत्र चिंतन, मंथन होना जरूरी है।

**(३८) स्वलक्षी वाचन-पद्धति का प्रकार रखना। जैसे कि:**

(i) उपदेश वचन से मुख्यरूप से अंतरंग में खुद के जीव को संबोधित करना।

(ii) भूलों का और दोषों का वर्णन करते समय खुद के जीव को अनादि से इसी प्रकार के कारणों से मार्ग प्राप्त नहीं हुआ या मार्ग से वंचित रहा।

(iii) जिस मार्ग से दूसरे को भी छुड़ाना योग्य है ऐसे मार्ग का स्वयं कैसे सेवन करे ?

(iv) जो बात स्वयं मुझे अच्छी न लगे अथवा अच्छी नहीं लगती है वह आप भी विचार करके मान्य करो।

(v) जिस बात को अंगीकार करना हो उस विषय में प्रयोग करके समझाना। वक्ता को बिलकुल अपरिणामी रहकर





उपदेशात्मक बात करना योग्य नहीं है। क्योंकि अपरिणामी रहकर उपदेशक होने में अनर्थ की उत्पत्ति होती है।

(iv) जो बात खुद करे उसमें निःशंक हो वही करे। जिस विषय में शंका में गोते खा रहा हो उस बात का निरूपण न करे।

(vii) शास्त्र के जिस विषय से खुद अनजान हो वहाँ अनजानपने का सरलता से स्वीकार करे।

(viii) कभी भी आत्मश्लाघा न करे और दूसरे की नींदा न करे। परन्तु खुद के आत्महित के विषय में तीक्ष्ण एवं हो सके उतना सूक्ष्म दृष्टिकोण रखना जिससे कि अनेक प्रकार के संभावित दोषों से वक्ता सहजरूप से अपनेआप बच जायेगा।

(ix) खुद की दशा को लक्ष में रखकर 'निरूपित उपदेश' खुद को अंगीकार करने का लक्ष रखना।

(३९) कोई व्यक्तिगत आक्षेप कभी भी नहीं करना चाहिये। उसके उपरांत किसी का भी मजाक या किसी की गुप्त बात खुल्ली नहीं करना।

(४०) वाचनकार को शांति से और वात्सल्यमय ध्वनि से वक्तव्य देना चाहिये।





## विवक्षा-□त्तीसी

प्रयोजनवश जिनागम के विषय में स्याद्वाद कथनपद्धति के अनेक प्रकार हैं, उसमें कहने के लिये निर्धारित प्रयोजन को 'विवक्षा' कहते हैं। समस्त विवक्षाओंका केन्द्रस्थान 'मूल शुद्धात्मस्वरूप' दर्शाने का तथा 'रागादि सर्व दोषों' का क्षय करना सो है। अत्र निम्न प्रकार से छत्तीस विवक्षित प्रकारों का स्पष्टीकरण कुछेक उदाहरणों के साथ प्रस्तुत है :

(१) भेद-प्रधान विवक्षा :- प्रत्येक पदार्थ का परिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से हो सकता है। प्रत्येक की सत्ता/अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता स्वरूप मोक्षमार्ग है।

(२) अभेद - प्रधान विवक्षा :- धर्मात्मा (-धर्म से अभेद) धर्म (-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति वह)। सम्यग्दृष्टि (-सम्यग्दर्शन से अभेद)। ज्ञानी (-सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ वह) केवली (-केवलज्ञान प्रकट हुआ वह)।

(३) द्रव्य-प्रधान द्रव्य की विवक्षा :- आत्मा स्वयं एक द्रव्य है। मैं परमपारिणामिक भाव हूँ।

(४) द्रव्य-प्रधान गुण की विवक्षा :- सर्व गुण एक द्रव्य की ही विशेषता है।



(५) **द्रव्य-प्रधान पर्याय की विवक्षा :-** चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव वह सम्यग्दृष्टि है। स्वानुभव। स्वानुभूति।

(६) **गुण-प्रधान द्रव्य की विवक्षा :-** आत्मा स्वयं एक द्रव्य है। मैं परमपारिणामिक भाव हूँ।

(४) **द्रव्य-प्रधान गुण की विवक्षा :-** सर्व गुण एक द्रव्य की ही विशेषता है।

(५) **द्रव्य-प्रधान पर्याय की विवक्षा :-** चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव वह सम्यग्दृष्टि है। स्वानुभव। स्वानुभूति।

(६) **गुण-प्रधान द्रव्य की विवक्षा :-** आत्मा ज्ञानस्वभावी है। आत्मा सहज आनंद स्वरूप है। स्वभाव की बुद्धि द्वारा आत्मा का आदर करना।

(७) **गुण-प्रधान गुण की विवक्षा :-** चैतन्यगुण ज्ञान तथा दर्शनस्वरूप है। रूप-रस-गंध-स्पर्श रूपीपने के भेद हैं।

(८) **गुण-प्रधान पर्याय की विवक्षा :-** सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व। भगवतीप्रज्ञा।

(९) **पर्याय-प्रधान द्रव्य की विवक्षा :-** जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो उसे स्वसमय जानना। संसारी जीव। सिद्ध जीव।

(१०) **पर्याय-प्रधान गुण की विवक्षा :-** ज्ञान ज्ञान का वेदन करे ऐसा ज्ञानस्वभाव है। प्रत्यक्ष वेदन होना वह स्वसंवेदनशक्ति अथवा प्रकाशशक्ति का परिणमन है।

(११) **पर्याय-प्रधान पर्याय की विवक्षा :-** सम्यक्त्व मोक्ष का मूल है। मिथ्यात्व के गर्भ में अनंत संसार है।

(१२) **श्रद्धा - प्रधान श्रद्धा की विवक्षा :-** सिद्ध समान



निज-स्वरूप की निर्विकल्प प्रतीति वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(१३) **ज्ञान-प्रधान श्रद्धा की विवक्षा :-** भूतार्थ आश्रित नौ तत्त्व की श्रद्धा वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(१४) **चारित्र-प्रधान श्रद्धा की विवक्षा :-** निजस्वरूप में आचरण करने से (-स्थिर होन से) मोक्षदशा की प्राप्ति होगी, ऐसी श्रद्धा वह निश्चय सम्यक् श्रद्धा है। वीतराग सम्यग्दर्शन। सराग सम्यग्दर्शन।

(१५) **पुरुषार्थ-प्रधान श्रद्धा की विवक्षा :-** समस्त उद्यम से स्वरूप की उपासना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(१६) **सुख / आनंद-प्रधान श्रद्धा की विवक्षा :-** स्वरूप के अनंत सुख की प्रतीति वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

(१७) **श्रद्धा - प्रधान ज्ञान की विवक्षा :-** सम्यक् श्रद्धानपूर्वक खुला हुआ ज्ञान वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

(१८) **ज्ञान-प्रधान ज्ञान की विवक्षा :-** स्वपने से वेदन में आ रहा ज्ञान वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

(१९) **चारित्र-प्रधान ज्ञान की विवक्षा :-** स्वस्वरूप में ज्ञान की स्थिरता वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। वीतराग अनुभूति। शुद्धोपयोग। अशुद्धोपयोग। शुभोपयोग। अशुभोपयोग।

(२०) **पुरुषार्थ-प्रधान ज्ञान की विवक्षा :-** ज्ञानबल से आत्मा के सभी गुणों का विकास साधा जा सकता है।

(२१) **सुख / आनंद-प्रधान ज्ञान की विवक्षा :-** आनंद-मुद्रित ज्ञान वही निश्चय सम्यग्ज्ञान का स्वरूप है।

(२२) **श्रद्धा-प्रधान चारित्र की विवक्षा :-** दृष्टिके बल से मोक्षमार्ग में स्थिर होनेरूप अथवा उपर-उपर के गुणस्थान में



आरुढ होनेरूप निश्चय सम्यग्चारित्र है।

(२३) ज्ञान-प्रधान चारित्र की विवक्षा :- स्वस्वरूपज्ञान ही प्रत्याख्यान (वीतरागभावरूप ही) है।

(२४) चारित्र-प्रधान चारित्र की विवक्षा :- वीतरागभाव से स्वरूप में स्थिरता वही स्वरूपाचरण निश्चय सम्यग्चारित्र है। वीतराग चारित्र। सराग चारित्र।

(२५) पुरुषार्थ-प्रधान चारित्र की विवक्षा :- मोक्षमार्ग में तीव्र पुरुषार्थ वह आत्मशुद्धि (-निर्विकल्पता) का पुरुषार्थ है। और सविकल्पदशा अथवा व्यवहारचारित्र में भी शुद्धि का ही मंद पुरुषार्थ है।

(२६) सुख/आनंद-प्रधान चारित्र की विवक्षा :- स्वरूपानंद आत्मा का निश्चय सम्यग्चारित्र है।

(२७) श्रद्धा-प्रधान पुरुषार्थ की विवक्षा :- रुचि अनुयायी वीर्य।

(२८) ज्ञान-प्रधान पुरुषार्थ की विवक्षा :- स्वसन्मुख ज्ञान में स्वरूप की अनंत प्रत्यक्षता आते ही वीर्यगुण की पर्याय में चैतन्यवीर्य उछलता है।

(२९) चारित्र प्रधान पुरुषार्थ की विवक्षा :- स्वस्वरूप में स्थिरता का बल वीतरागता को प्रकट करता है अथवा विभाव को क्षय करता है।

(३०) पुरुषार्थ-प्रधान पुरुषार्थ की विवक्षा :- स्वरूपरचना वह वीर्यशक्ति का स्वाभाविक परिणामन है।

(३१) सुख / आनंद-प्रधान पुरुषार्थ की विवक्षा :- निर्मल आनंद से उल्लसित वीर्य बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता से परे



होकर अथवा निरपेक्ष होकर वर्तता है, वह सम्यक् पुरुषार्थ है।

(३२) श्रद्धा-प्रधान सुख / आनंद की विवक्षा :- प्रकट-अप्रकट सर्व अवस्थाभेद है, वस्तु तो सदा जैसी है, वैसी है-ऐसी श्रद्धा सुख का मूल है।

(३३) ज्ञान-प्रधान सुख / आनंद की विवक्षा :- कषाय के अभाव स्वभावी निराकुल ज्ञान स्वयं ही सुख स्वरूप है। निजस्वरूप का उपयोग वह सुख है।

(३४) चारित्र-प्रधान सुख / आनंद की विवक्षा :- स्वरूपस्थिरता से परिणमन कर रहा आत्मा ही स्वयं सुख है।

(३५) पुरुषार्थ-प्रधान सुख / आनंद की विवक्षा :- धर्मीजीव को अंतर्मुखी परिणाम का जोर स्वभाव में रहे अनंत सुखमयपने के कारण प्रतिसमय बढ़ता जाता है, इसलिये सम्यक् पुरुषार्थ ही सुख का जनक है।

(३६) सुख / आनंद प्रधान सुख / आनंद की विवक्षा :- निराकुलतामय सुखशक्ति है।

‘जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वह;’

अतः आत्मार्थियों को परमकृपालु श्रीमद्जी के उक्त उपकारभूत निर्देश का निरंतर लक्ष रहना (रखना) कर्तव्य है। तो ही तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर रहे मुमुक्षुजीव को शास्त्रों की विवक्षाओं में परस्पर अविरोधता उत्पन्न हो, अर्थात् कहीं विरोधाभास उत्पन्न न हो; एवम् विपरीत तर्क अथवा कुतर्क से उन्मार्ग में जाने से बच सके। इस तरह आत्मलाभ को लक्षमें रखकर उपर्युक्त विवक्षायें जानने योग्य है। अस्तु।



## □ भाव-संतुलन रूप अनेकांत

श्री सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रप्रणीत तत्त्वज्ञान परंपरासे आज धर्मस्तंभ, परम श्रद्धेय आचार्य भगवंतो तथा वंदनीय सत्पुरुषों द्वारा विद्यमान है। और ज्ञानी धर्मात्मा स्वानुभवपूर्वक उसकी प्ररूपणा करते रहें हैं; वह सांप्रत हूंडावसर्पिणी दुषमकाल में भी परम सौभाग्य की स्थिति है।

परम पदार्थ आत्मा स्वरूप से हि सूक्ष्म स्वाभावी-स्वरूपी होने के कारण उसका स्वरूप और उसकी प्राप्ति का मार्ग-साधन का स्वरूप भी अत्यंत सूक्ष्म है। अतः अंतर में सूक्ष्मता से ज्ञान को देखें तो तत्त्व पकड़ में आ सके ऐसा है, अथवा भेदज्ञान हो सके। पर की-राग की तीव्र रुचि रहने से उपयोग स्थूल रहता है। स्वभाव की महिमा होने से, वैसी विपरीत रुचि मिटने से, उपयोग धीर और सूक्ष्म होकर, स्वभाव-विभाव को अलग करके, स्वरूप ग्रहण करने योग्य होता है। अंदर द्रव्य में उतरने के लिये यथार्थ सूक्ष्मता के कुछेक प्रयोजनभूत मुद्दे आत्मार्थी जीव को विपर्यास से बचने के लिये विचार ने योग्य है। जिससे सत्शास्त्रों की विभिन्न कथन पद्धति होने से उसका अभ्यास करते समय, कही भी भाव में संतुलन गंवा देने से एकांतपना न हो जाय। इसलिये संतुलन के लिये कुछेक मुद्दे



निम्न प्रकार से है।

१. निश्चय-व्यवहार। २. उपादान-निमित्त। ३. आगम-अध्यात्म। ४. श्रद्धा-ज्ञान। ५. द्रव्य-पर्याय। ६. भेद-अभेद।
७. ज्ञान-पुरुषार्थ। ८. उत्सर्ग-अपवाद। ९. चारित्रमोह-दर्शनमोह।
१०. पर्याय की भिन्नता-अभिन्नता।

**१. निश्चय-व्यवहार :-** निश्चय आत्मस्वरूप का आश्रय कराने के प्रयोजनवश जिनागम में आध्यात्मशास्त्रों में जगह जगह निश्चय की मुख्यता से प्रतिपादन है। परंतु उस विषय का एकांत हो जाने से भाव में संतुलन नहीं रहने से निश्चयाभास उत्पन्न होता है। एवं मोक्षमार्ग में साधक की भूमिकानुसार, वीतरागी स्थिरता के कारण, (निम्न कोटि के राग का अभाव दर्शाने हेतु) यथार्थ व्यवहार का प्रतिपादन भी प्रयोजनवश किया है, उस पर वजन बढ़ जाने से व्यवहाराभास उत्पन्न होता है। एवं वीतराग मार्ग में आरुढ़ होकर निश्चय-व्यवहार की संधियुक्त परिणामन नहीं होने से दोनों विषय में कृत्रिम / कर्तृत्वबुद्धि से विकल्प हुआ करे, तब उभयाभास उत्पन्न होता है। वह सब एकांत है। यथार्थ समझ और सम्यग्ज्ञान में दोनों विषयों का अपनी अपनी जगह संतुलन बना रहने से निश्चय-व्यवहार का अविरोधपना (विषय विरोध होने पर भी) सधता है। अर्थात् निश्चयस्वरूप के लक्ष सहित-जोर सहित, शुभभावरूप व्यवहार यथासंभव सहज प्रवर्तता है; दोनोंमें से किसी का स्थान भ्रष्ट हो जाने का प्रकार उत्पन्न नहीं होता।

**२. उपादान-निमित्त :-** उपादान निज शक्ति है; तदानुसार कार्य के अनुकूल संयोग में रहा हुआ पदार्थ निमित्त है। साधक





जीव अपने पुरुषार्थ में मुख्यरूप से वर्तते हैं फिर भी वीतरागी देव, शास्त्र, गुरु तथा सत्पुरुष का निमित्तरूप से स्वीकार तथा उनकी महिमा, भक्ति, बहुमान के भाव, सराग स्थिति में सहज आये बिना नहीं रहते; तथापि निमित्ताधीनबुद्धि हुये बिना, उनके उपकार को भूलते नहीं है। 'प्रत्यक्षयोग के बिना देशनालब्धि की प्राप्ति होती नहीं है'-इस वस्तुस्थिति के सिद्धांत को साधक जीव अपने अनुभव से समझते हैं; इसलिये कुदेव आदि को निमित्तरूप में भी स्वीकार नहीं करते। उपकारी श्रीगुरु के प्रति परम भक्ति के भाव होने के बावजूद भी, संतुलन गंवाये बिना वे अपने पुरुषार्थ द्वारा उद्यमवन्त रहते हैं; और कार्य अपने से ही होता है ऐसा बराबर समझते हैं। इस तरह निमित्त-उपादान का संतुलन है।

**३. आगम-अध्यात्म :-** चारों अनुयोग में अनुयोग अनुसार सिद्धांत स्थापित हैं। और उन सबका हेतु 'आत्मस्वरूप के आधार से आत्महित साधने का है।' इस प्रकार चारों अनुयोग में तात्पर्यभूत अध्यात्मतत्त्व है। इसलिये अध्यात्म के सिद्धांत सर्वोत्कृष्ट है। और उसके लाभ हेतु आगम का सैद्धांतिक ज्ञान यथावत् रखकर, अध्यात्मपद्धति को मुख्य करने में आता है; और इसलिये आगम-ज्ञान का विषय गौण हो जाता है। जैसे कि :

पर्याय द्रव्य का अंश अवयव होने पर भी त्रिकाली घुव परमात्म तत्त्व में अहंबुद्धि होने हेतु, उपासने हेतु चारों पर्यायभाव-औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावों को परद्रव्य और परभाव कहने में आया है। वहाँ द्रव्यानुयोग के सिद्धांत



अनुसार 'पर्याय द्रव्य का अंश है' यह (बात) ज्ञान में गौण रह जाती है, और उपरोक्त अध्यात्म के हेतुवश 'घ्रुवतत्त्व' की मुख्यता की जाती है; फिर भी ज्ञान में आगम-अध्यात्म का संतुलन बना रहता है। ऐसी सूक्ष्मता सम्यक् मार्ग में है।

राग निश्चय से जीव का विकार है। फिर भी, उसमें हेयपना होने हेतु उसे पुद्गल कहकर उसका निषेध करने में आता है। वहाँ राग वास्तव में पुद्गल है ऐसा ज्ञान में नहीं होते हुए भी, संतुलन बना रहकर उसको पुद्गल कहने में निर्दोषता ही है, अर्थात् उसमें दोष नहीं है।

द्रव्यानुयोग के आगम-सिद्धांत अनुसार द्रव्य तथा पर्याय का एक क्षेत्र है। फिर भी, जीवने अनादिसे पर्यायकी अनित्यतामें नित्यताको भ्रान्तिगतरूप से स्थापित किया है; उस भ्रान्ति का नाश होने के प्रयोजन हेतु तथा नित्य स्वभाव पर दृष्टि कराने हेतु 'द्रव्य के क्षेत्र से पर्याय का क्षेत्र भिन्न है' ऐसा सिद्धांत अध्यात्मशास्त्रों में प्रतिपादित है। वहाँ भी द्रव्यानुयोग अनुसार का आगम-ज्ञान गौण रहकर आध्यात्मिक अभिगम दर्शाने के लिये ऐसा कहने में आता है, वह निर्दोष है। और ऐसा कहने में ज्ञानी का आगम-अध्यात्म का संतुलन बराबर बना रहता है और जरा भी एकांत नहीं होता।

**४. श्रद्धा-ज्ञान :-** सम्यक् श्रद्धा का विषय पर्यायरहित मात्र त्रिकाली घ्रुव परमात्मतत्त्व ही है। इसके सिवा पूर्णशुद्ध पर्याय का भी श्रद्धा स्वीकार नहीं करती। जब कि ज्ञान का विषय शुद्ध पर्याय के वेदन सहित त्रिकाली घ्रुव का अवलंबन लेने का है। तथा ज्ञान गुणभेदों को, विभाव को एवं विभाव के



निमित्त को भी यथास्थान में जानता है। इस प्रकार सभी को जानना यह ज्ञान का स्वभाव होने पर भी साधक को श्रद्धा के विषयभूत परमतत्त्व की ज्ञान में मुख्यता रहती है; और गुणभेद, पर्यायवेदन, निमित्तादि ज्ञान में गौणरूप से रहते हैं। इसलिये श्रद्धा एवं ज्ञान के परिणमन में अविरुद्धपना रहता है वही श्रद्धा-ज्ञान का संतुलन है। अगर कोई श्रद्धा के विषय में एकांत करे तो ज्ञान में अयथार्थता उत्पन्न हो जाय अथवा ज्ञान में श्रद्धा के विषय को छोड़कर अन्य की मुख्यता-पर्याय की या निमित्त की मुख्यता हो जाय तो श्रद्धा सम्यक् नहीं रहेगी। यथार्थ समझपूर्वक ही सम्यक् श्रद्धा प्रकट होती है।

**५. द्रव्य-पर्याय :-** द्रव्यस्वभाव का अवलंबन द्रव्यस्वभाव के जोर से आता है; फिर भी वेदन पर्याय का होता है। पहले चतुर्थ गुणस्थान में पर्याय में अपूर्व आनंद वेदन में आता है; फिर भी उस आनंद आदि पर्याय की मुख्यता नहीं होती है। अथवा मोक्षपद की भावना के समय भी साधक को पर्याय का आश्रय नहीं होता है। द्रव्य का अवलंबन एवं पर्यायशुद्धि दोनों प्रयोजन सम्मिलित होते हुये भी, संतुलन रहने से दोनों यथास्थान में रहते हैं।-इस प्रकार द्रव्य के आश्रय से ही पर्याय में प्रयोजन सधता है। पर्यायदृष्टि छोड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने पर ही प्रयोजन की सिद्धि है।

**(६) भेद-अभेद :-** अनादि से अभेद स्वरूप से अनजान ऐसे जीव को भेदपूर्वक अभेदस्वरूप समझाने के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। कम से कम 'ज्ञान वह आत्मा' ऐसा गुण-गुणी का भेद कहे बिना अखंड अभेद आत्मा समझाया



नहीं जा सकता है। पुनश्च, वस्तु का स्वरूप भी कथंचित भेदरूप है; अतः वस्तुभूत होने के कारण भेद को स्वरूपज्ञान उत्पन्न होने का अंग कहा है। अभेद स्वरूप का ज्ञान हो जाने के बाद भी वस्तु की महिमा दर्शाने के लिये वस्तु में रहे अनेक गुणवैभव द्वारा दर्शाने में आता है। वहाँ भी भेद की प्रधानता दिखने पर भी अभेद का अनुभव साधने का प्रयोजन है। इसलिये ऐसे प्रसंगों में अभेद तत्त्वकी ही मुख्यता रहती है। सम्यक् मार्ग में ऐसा संतुलन दोनों के बीच रहता है।

**७. ज्ञान-पुरुषार्थ :-** परमतत्त्व का आश्रय स्वभाव के जोर से होता है। स्वभाव पर जोर होना वही स्वरूपज्ञान की वास्तविकता है। अन्यथा द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव संबंधित क्षयोपशमवाला ज्ञान अनादि से कषाय के जोर में रहकर प्रवर्तमान होने से वह राग अथवा पर का आश्रय छुड़ाने में समर्थ नहीं है। स्वभाव प्रति जोर होने में कृत्रिमता न हो जाय वह लक्ष में रखने योग्य है। मनके संग से विचारज्ञान में ज्ञायकतत्त्व की कल्पना हो जाय और तद्अनुसार चिंतवन, मनन, घोलन इत्यादि चले तो भी स्वाभाविक पुरुषार्थ के अभाव के कारण अनुभव नहीं सधता है। वास्तव में तो स्वभाव के भावभासन से, स्वभाव का सामर्थ्य ज्ञान में आनेसे, स्वभाव का चैतन्यवीर्य उछले तो ही उसमें कृत्रिमता नहीं होती है। इस प्रकार में आने से द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु का स्वरूपज्ञान तथा त्रिकाली अभेद स्वभाव प्रति के जोर-पुरुषार्थ के बीच में संतुलन बना रहता है। भावभासन के बिना ज्ञान कल्पनायुक्त है। कल्पना तथा वास्तविकता परस्पर विरुद्ध है। इसलिये कल्पनायुक्त



ज्ञानसहित कृत्रिम जोर आये तो भी स्वरूपज्ञान और पुरुषार्थ के बीच संतुलन नहीं बन पाता है और एकांत हो जाता है। कल्पना का फल दुःख है, वह विस्मरण करने योग्य नहीं है। आगम का अभ्यास करते हुये स्वरूपनिश्चय होने में कल्पना हो जाने का कारण जीव की लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा और असत्संग है। इसलिये उक्त तीनों प्रकार के दूषित भावों को छोड़कर, अंतरखोजपूर्वक यथार्थ स्वरूपनिश्चय हो तो ही ज्ञान व पुरुषार्थ का सुमेल रहता है।

**८. उत्सर्ग-अपवाद :-** साधक का परिणमन उत्सर्ग-अपवाद की मैत्रीरूप होता है। केवल वीतरागता ही एकांतरूप से उपादेय है और राग एकांतरूप से उपादेय नहीं है, ऐसा उत्सर्ग का सिद्धांत है। तथापि शुद्धि के मंद पुरुषार्थ के कारण साधक को अपनी भूमिकानुसार अपनी मर्यादा का राग-विकल्प उत्पन्न हो जाता है, वह अपवादमार्ग है; वहाँ अशुभ से बचने के लिये शुभरागरूप प्रवर्तन भी होता है। उत्सर्ग एवं अपवाद दोनों विषय में संतुलन गंवाये बिना, साधक जीव उग्र पुरुषार्थ में प्रवर्तन करता हुआ बारम्बार शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्प दशा में आरुढ होकर, मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है।

**९. चारित्र-मोह-दर्शन मोह :-** मोक्षमार्ग में विचरते हुये धर्मात्मा को चारित्रमोहवश राग-द्वेष उत्पन्न होता है; फिर भी उसमें तन्मयभाव से वे परिणाम नहीं होते हैं। इस प्रकार रागादि में प्रवर्तते हुये भी संतुलन गंवाकर विभाव की तन्मयता नहीं होने का कारण उनको दर्शनमोह का अभाव वर्तता है वह है। अर्थात् साधक जीव निज स्वरूप के भान में रहते होने

० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०  
 से, स्वरूप का एकत्व नहीं छूटने से, रागादि विभाव से भिन्न रहनेरूप संतुलन बनाये रखते हैं।

**१०. पर्याय की भिन्नता-अभिन्नता :-** पर्याय अनित्य भाव है जब कि द्रव्य शाश्वत है। इसलिये दोनों के धर्म परस्पर विरुद्ध है-एक अनित्य और दूसरा नित्य। फिर भी दोनों अभिन्न सत्ता में होने के कारण पर्याय द्रव्य से अभिन्न भी है। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय की कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता है।

अब पर्याय कथंचित् भिन्न होने के कारण अनादि से पर्याय में संसारअवस्था स्वतंत्ररूप से हो रही है। आत्मा का मूल स्वभाव सदा-सर्वथा संसार से रहित, एकरूप, सिद्ध समान होते हुये भी, अनादि से पर्याय अनेक रूप से संसारभाव में स्वतंत्ररूप से हो रही है; परंतु स्वभाव सामर्थ्य के आधीन स्वभावरूप अवस्था नहीं होती; इस तरह पर्याय की स्वतंत्रता भी है। (इस प्रकार अगर जीव की पर्याय अनंत सामर्थ्य के आधीन भी नहीं होती है तो परपदार्थ के अधीन होने की बात का तो कोई अवकाश ही नहीं रहता है।

पर्याय की इस प्रकार से स्वतंत्रता जानने-मानने से निम्न विपर्यास उत्पन्न नहीं होते हैं बल्कि परमार्थरूप प्रयोजन सधता है:

१. पराधीनता के अज्ञान अभिप्राय से उत्पन्न हो रहे राग-द्वेष मिटते हैं।

२. जो पर्याय की स्वतंत्रता का स्वीकार न कर सके वह द्रव्य की स्वतंत्रता का भी स्वीकार नहीं कर सकता है,



ऐसा प्रतिबंधक अभिप्राय का दोष मिटता है।

३. पर्याय की स्वतंत्रता जानने से 'पर्याय की गौणता' पूर्वक 'त्रिकाली स्वभाव की मुख्यता' पर्याय प्रति उपेक्षित भाव से हो-यह महत्त्वपूर्ण न्याय है।

-इस तरह अध्यात्म के प्रयोजनवश पर्याय की स्वतंत्रता-रूप धर्म को ठीक प्रकार से दर्शाने के लिये पर्याय के षट्कारकरूपी धर्म भी कहने में आते हैं, वहाँ कथंचित् अभिन्नरूप से वस्तु की रचना का ज्ञान रहता है, और संतुलन गंवाते नहीं तथा एकांत भी नहीं होता।

सारांश यह है कि : सम्यक्मार्ग में वस्तुस्वभाव की और मार्ग की अत्यंत सूक्ष्मता रहती है, जो ज्ञानीधर्मात्मा के ज्ञान में स्पष्टरूप से निरंतर प्रकाशित रहती है; तथापि उसको वचनगोचररूप से कहने पर स्थूल विकल्परूप वचनव्यवहार उपस्थित होता है, ऐसी वस्तुस्थिति है। जिसके कारण ज्ञानी के हृदय में स्थित अर्थगांभीर्य तक पहुँचने में असमर्थ ऐसे मुमुक्षु जीव को एकांत हो जाने का संभव है। इसलिये उपर्युक्त कुछेक प्रयोजनभूत वाक्यों का संक्षेप में स्पष्टीकरण है। उन्मार्ग से बचकर सन्मार्ग में स्थितिकरण हो इस हेतु से उक्त निरूपण है, अस्तु।





## ज्ञान

आत्मा की अनंत शक्तियोंमें से एक मुख्य शक्ति 'ज्ञान' है। इस शक्ति की व्यक्ति अनेकविध प्रकार से विभिन्न अवस्थाओं में प्रगटती रहती है; उसी तरह ज्ञान में आश्चर्यकारी अनंत ऋद्धियां रही हुई हैं; उसके अवलोकन हेतु संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :

❁ ज्ञानकी सत्ता :- द्रव्य प्रमाण; शक्ति : स्व पर प्रकाशक; जाति : सम्यक् व मिथ्या; गति : ज्ञान (-जानपना) और अज्ञान (-अनजानपना) है।

❁ ज्ञान के आगमविवक्षा से (-कर्म के आवरण-निरावरण की अपेक्षा से) पाँच भेद हैं : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान।

❁ भ्रांतिगत अवस्था में प्रवर्तमान मति-श्रुत-अवधि ज्ञान को 'कु' संज्ञा मिलती है। अर्थात् वैसी अवस्था में प्रवर्तमान ज्ञान को कुमति-कुश्रुत-कुअवधि (विभंग) कहने में आता है। भ्रांति पैदा होने का मुख्य कारण 'परपदार्थों को निजस्वरूप जानना-मानना' वह है; जिसकी वजहसे ज्ञान में मुख्यरूप से तीन दोष उत्पन्न होते हैं : संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विपर्यय (विपर्यास)।





❁ निर्भ्रात अवस्था में प्रवर्तते मति-श्रुत-अवधि ज्ञान को 'सु' / 'सम्यक्' संज्ञा मिलती है। अर्थात् उस अवस्था में रहे ज्ञान को सुमति-सुश्रुत-सुअवधि कहने में आता है।

❁ कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (विभंग) ज्ञान पहले गुणस्थान में होता है।

❁ सुमति, सुश्रुत तथा सुअवधि ज्ञान चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है।

❁ प्रवर्धमान चारित्रवंत तथा अन्यतम ऋधिवाले किसी भावलिंगी मुनिराज को ही मनःपर्ययज्ञान प्रकट होता है। इस ज्ञान के दो भेद हैं : ऋजुमति तथा विपुलमति। मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय वीतराग छध्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।

❁ तेरहवें गुणस्थान में प्रकट होनेवाला क्षायिक ज्ञान जो कि सर्वथा अंतर्मुख होने पर भी सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा सर्व को जानता है वह केवलज्ञान है।

❁ स्पष्ट और अस्पष्ट जानने की अपेक्षा से ज्ञान के दो भेद है : प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति और श्रुत परोक्ष है। अवधि और मनःपर्यय अंश प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। सूक्ष्म विचार से स्वानुभव के काल में मति - श्रुत अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

❁ प्रथम गुणस्थान में प्रवर्तमान एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवों को मति-श्रुत ज्ञान का क्षयोपशम न्यूनतम अक्षर के अनंतवें भाग प्रमाण और उत्कृष्टतम ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक होता है।



❁ श्रुतज्ञान की पर्याय में दो भाग पड़ते हैं : लब्ध और उपयोग।

❁ सम्यक् श्रुतज्ञान नय-प्रमाण युक्त प्रवर्तता है। नयों के अनंत भेद हैं, उसमें मुख्य दो भेद है : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। श्रुतज्ञान की पर्याय के अनंत धर्म होते हैं। उसमें से किंचित् वचनगोचर धर्मों का स्वरूप निम्न प्रकार से है :

१. जानना : जाननरूप ज्ञान।
२. वेदना (वेदन करना) : अनुभव करना।
३. स्वच्छता : ज्ञेय के प्रतिबिंब को झेलना।
४. व्यापकता : व्यापना। विभुता।
५. उर्ध्वता : मुख्य रहना।
६. सूक्ष्मता : तीक्ष्णता।
७. निर्लेपता : निर्ममत्व। भिन्न रहना। विरक्तता।
८. गंभीरता : गहनता।
९. धीरता : अविचलता।
१०. निःशंकता : शंकारहित।
११. सहजता : स्वाभाविकपना।
१२. निर्विकारता : शुद्धता।
१३. रम्यता : रमणीयपना। मनोहरता।  
मनोरमता। सुंदरता।
१४. मध्यस्थता : तटस्थ रहना।
१५. प्रभुता : वैभवपना।
१६. ऐश्वर्यता : ईश्वरता। शक्तिवानपना।
१७. अमेयता : सीमारहितपना। अमर्यादितता।

१८. निराकुलता : आकुलतारहित।
१९. निरामयता : निर्दोषपना।
२०. निरपेक्षता : उपेक्षा। उदासीनता।
२१. निर्भ्रांतता : भ्रमरहित।
२२. निरापद : निर्विघ्नपना।
२३. नित्यता : अविनश्वरता। शाश्वतता।
२४. सादृशता : एकरूपता।
२५. विसादृशता : अनेक प्रकार से ज्ञेयानुसार होना।
२६. धारणा : जाना हुआ धारण करके रखना।  
स्मृति।
२७. संस्कार : गहरे गहरे छाप रह जाना।
२८. मूल्यांकन : कीमत आंकना।
२९. महिमा : बहुमान होना। भवित होनी।
३०. ज्ञेयत्व : जनाने योग्य।
३१. प्रमेयत्व : प्रमाण होने योग्य।
३२. पहचानना : भाव भासित होना।
३३. चिकित्सा : जाँचना। खोजना।
३४. परीक्षा : चारों ओर से जानकर निर्णय पर आना।
३५. मुख्य-गौण करना : अनेक विषयों को जानने पर भी प्रयोजन का विषय मुख्य होना तथा बाकी सब गौण हो जाना।
३६. लक्ष : प्राप्ति एवं आश्रय का स्थान ज्ञानमें से नहीं छूटना।



३७. तर्कणा : हेतु प्रति लम्बाना।
३८. विवेक : न्याय - अन्याय सम्मत करना।  
संतुलन बनाये रखना।
३९. अवलंबन : स्वसत्ता का या परसत्ता का।
४०. दिशा : स्व - पर सन्मुख अथवा स्व -  
पर उन्मुख होना।
४१. सावधान : सम्हालना।
४२. चेतना : जागृत होना।
४३. विश्वास करना : प्रतीति करना।
४४. रस - प्रगाढता : जैसे जैसे ज्ञान स्वभाव का वेदन  
करता जाता है, वैसे वैसे  
विज्ञानघन होता जाता है।  
स्वसंवेदन ज्ञान तो स्वसंवेदन  
ज्ञान ही है, परंतु स्वरूप को  
वेदन के रस की तारतम्यता  
तीव्र - तीव्रतर - तीव्रतम होती  
जाती है, वह ज्ञानरस की  
प्रगाढता है।

❀ ज्ञान सभी ज्ञेयों को प्रकाशता है।

❀ ज्ञान स्वयं ही स्वसंवेद्यमान है।

❀ ज्ञानमें अन्य ज्ञेय को वेदने का गुण नहीं है।

तथापि, 'ज्ञान पर को नहीं जानता' ऐसा जो कथन  
आध्यात्मिक प्रकरण में है; उसमें रहे अर्थगांभीर्य का आत्मार्षी  
जीवों को स्वहित के लक्ष से पूरीपूरी गंभीरता से अवधारण



करने योग्य है; अन्यथा इस विषय में विपर्यास होने की संभावना अवश्य है।

अतः 'ज्ञान पर को जानता नहीं है'-वहाँ ज्ञान की शक्ति जो कि 'निश्चय' से स्व-पर प्रकाशक है, वह सर्व ज्ञेयों को प्रकाशती है; उसका निषेध करने का हेतु यहाँ नहीं है। परंतु अध्यात्म के दृष्टिकोण से निम्नलिखित तीन न्याय यहाँ सोचे जा सकते हैं। यथा :

१. जो ज्ञानरस के रसिक ज्ञानी हैं, ऐसे ज्ञानी ज्ञेयाकारज्ञान को गौण करते हुये, ज्ञान को ज्ञानसामान्य में एकाकार करते हुए, उस प्रकार की मस्ती में परज्ञेय को अत्यंत गौण करके ऐसे वचनामृत को प्रकाशित करते हैं।

२. ज्ञान पर का वेदन नहीं करता अर्थात् वेदन कर भी नहीं सकता : ऐसा भाव सूचित करने के लिये भी उक्त वचनामृत न्याय संपन्न है।

३. ज्ञान पर में तन्मय होकर जानता नहीं है परंतु स्वच्छता के कारण ज्ञेय का प्रतिबिंब ज्ञान में झलकता होने पर भी ज्ञान ज्ञेय में एकत्वभाव को प्राप्त नहीं होता; परंतु ज्ञान का ज्ञान में एकत्व अनुभवरूप में स्पष्टतया रहता है; ऐसे आशय से भी उक्त वचन निर्दोष है।

-उपरोक्त न्यायों का अवधारण किये बिना, 'ज्ञान पर को जानता नहीं है' ऐसे वचन द्वारा ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक शक्ति का अज्ञानभाव से निषेध हो जाये तो उसमें आत्मस्वरूप का निषेध गर्भित है और वह स्पष्टरूप से गृहित मिथ्यात्व को करनेवाला भाव है।



पुनश्च स्वानुभूति के कारणों में भेदज्ञान की प्रक्रिया की प्रधानता है। इसलिये ज्ञान को एकमात्र साधन के रूप में प्रसिद्धरूप से कहने में आया है। साधनविषयक किसी भी प्रकार का विपर्यास होने पर आत्महित का प्रयोजन कोई भी अंश में सधता तो नहीं है परन्तु जीव उन्मार्ग में चढ़ जाता है. आत्महित के इच्छावान जीवों के लिये 'ज्ञान' ही एकमात्र साधन है। इसकी स्पष्टता के परन्तु लिये निम्न गाथा दृष्टव्य है।

**‘प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।**

**स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम्॥’**

[पंचाध्यायी (उत्तरार्ध)-गाथा : ४०९]

दुर्जय ऐसा मोह और किसी भी प्रकार की विभाव प्रकृति 'ज्ञान से' ही क्षय होती है; अतः ज्ञान को समझने का यह मूलभूत प्रयोजन है। इसीलिये ज्ञान को सर्वांगीरूप से समझने के हेतु से उक्त लेख में यत्किंचित् स्पष्टता की गई है। मुमुक्षु जीव पूरी सावधानीपूर्वक 'ज्ञान' को समझने का और अवलोकने का उद्यम करें, ऐसी प्रशस्त भावना है। और ज्ञानविषयक कोई भी प्रश्न उपस्थित होने पर, उस प्रश्न की पृष्ठभूमि उक्त प्रकरण-विस्तार के अनुसंधान में विचारना- समझना आवश्यक है। अस्तु . . .





## मंगल प्रारंभ

आत्मार्थी जीव के जीवन का मंगलमय प्रारंभ इस प्रकार होता है कि जिसके फलस्वरूप उसे मंगलदायी सन्मार्ग की दिशा में उत्तरोत्तर ऊर्ध्व भूमिका संप्राप्त होकर, मोक्षमार्ग (-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) प्रगट हो सके।-ऐसे बीजभूत सिद्धांत के बारे में 'मंगल प्रारंभ' शीर्षक के अंतर्गत, आत्मार्थी जीवों के विचारार्थ, चंद विचार प्रस्तुत है :-

आत्मजागृति मुमुक्षुता का मुख्य लक्षण है। वस्तुतः मुमुक्षुता का मंगल प्रारंभ ही आत्मजागृति से होता है। 'जितनी आत्मजागृति उतनी ही मुमुक्षुता'-ऐसा अभिमत सर्व ज्ञानियों का है। अतएव बिना आत्मजागृति के मुमुक्षुता केवल नाममात्र होने से उसे शून्यवत् समझना योग्य है।

हर विचारवान जीव की ऐसी चाहत है कि उसका जीवन शांत व निराकुलतामय बन जाये। तदर्थ वह अपनी जीवन शुद्धि इच्छता है। क्योंकि जीवनशुद्धि और पवित्रता के साथ सुख-शांति अविनाभावी है। यह स्पष्ट है कि जिनका जीवन मलिन है, तो फिर वे चाहे भौतिक वैभव संपन्न भी हो तो भी वे अपने दुःख व क्लेशमय परिणामों से वर्तमान में अशान्ति को ही भोगते हैं और भोगेंगे। अतः निराकुलता हेतु जीवनशुद्धि-

करण के विषय को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार कर, तदर्थ यथेष्ट कार्यपद्धति को समझकर, उसे अंगीकार करना चाहिए।

कार्यपद्धति का महत्त्वपूर्ण व अनिवार्य अंग, कार्य का अनुक्रम होता है। जो यथार्थ अनुक्रम को ही न समझा जाए और अपनी कल्पना या अनुमान से प्रवृत्ति की जाए, तो वैसी क्रमभंग प्रवृत्ति जो स्वयं क्रमविपर्यासरूप होने से उससे कार्य सिद्धि कदापि नहीं होती; अपितु उससे समय और शक्ति का अपव्यय अवश्य होता है। मोक्षमार्ग हेतु स्वेच्छा से प्रयत्नवान जीवों की असफलता का मुख्य कारण प्रायः क्रमविपर्यास सेवन है। ध्येय प्राप्ति के यथार्थ व वैज्ञानिक क्रम को समझे बिना, स्वमति कल्पना से प्रवर्तन करने से अभीष्ट सिद्धि कैसे संभव है ? अतः अत्यन्त सावधानी पूर्वक चर्चितविषय का समीचीन निर्णय करना चाहिए। क्योंकि प्रथम निर्णय के आधार पर ही आगे बढ़ना होता है।

सर्व स्वानुभवी महापुरुषोंने, निष्कारण करुणा से, स्वयं के अनुभव से 'मंगल प्रारंभ' अर्थात् 'शुरुआत' की भूमिका के विषय का सैद्धांतिक निरूपण किया है जो विचारवान जीव को अनुभवगम्य करने योग्य है।

अपने प्रत्यक्ष उपकारी महान् तत्त्ववेत्ता पूज्य गुरुदेव श्री कहानजी स्वामी ने उक्त विषय में एक सिद्धांतसुत्र इन शब्दों में दिया है : 'पूर्णता के लक्ष से शुरुआत वही वास्तविक शुरुआत है।'

पूज्य गुरुदेवश्री के इस वचनामृत में अति गांभीर्य है। उनकी स्वयं की गहन विचारधारामें से उर्वरित 'यह परम सत्य'



५ ५ ५ ५ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०  
 सन्मार्ग की शुरुआत करनेवाले हर आत्मार्थी जीव के लिए  
 प्रकाशस्तंभरूप है।

चूँकि शुरुआत विषयक भूल अनेक भूलों की सर्जक होती है, यह सहज समझ में आये ऐसी बात है। जिसने कार्य की शुरुआत वास्तविकरूप से नहीं की अर्थात् उसने वास्तविकता से दूर / विरुद्ध जाकर काल्पनिक शुरुआत की है, तो वैसी काल्पनिक शुरुआत के आधार पर कार्य सिद्धि / आत्मकल्याण कैसे संभव है ? अतएव उक्त सिद्धांतसूत्र की विशेष गवेषणा करनी योग्य है।

यदि अपने वर्तमान धार्मिक समाज पर दृष्टिपात करें तो यह बात उभर कर सामने आती है कि उक्त महत्पूर्ण विषय व उसकी गंभीरता की चर्चा तक प्रायः नहीं चलती है; अतएव उसके परिणाम भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं। सर्वत्र अपनी अपनी रुचि व मान्यता अनुसार लोग बाह्य प्रवृत्ति करते दिखलाई देते हैं। विचारणीय प्रश्न है कि जितनी सावधानी देहार्थ, व्यवसायार्थ आदि उदयप्रसंगो के प्रति रखने में आती है उतनी भी सावधानी क्या अनंत जन्म-मरण व दुर्गति के महादुखों से छुड़ाकर अनंत अनंत सुख-शान्ति और त्रैलोक्यपूज्य ऐसे परमोत्कृष्ट निर्वाण पद के हेतुभूत धर्मसाधन के प्रति लेने में आती है ? जब तक सुख-दुःख के विषय में यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया जायेगा तब तक उक्त विषय का भी महत्त्व समझमें नहीं आ सकेगा। हकीकत यों है कि जीव को जहाँ जितना प्रयोजन भासित होता है वहाँ उसी अनुपात में वह जाग्रत होकर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रह सकता। इसलिये जिस जिस आत्मा को अपने



हित विषयक प्रतीति / जागृति आई उन उन आत्माओं ने अपने देहार्थ हेतुभूत पुरुषार्थ से अनंत गुना पुरुषार्थ मोक्ष के लिए किया और उन्होंने अनंत अनंत समाधिसुख को संप्राप्त किया है।

'पूर्णता के लक्ष से शुरुआत' का आशय यह है कि : 'पूर्णता' अर्थात् पूर्ण साध्यरूप शुद्ध-पवित्र अवस्था। तथा 'लक्ष्य' अर्थात् गंतव्य योग्य ध्येय-जीवन का एक मात्र आदर्श । और आदर्श कभी अपूर्ण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जब तक जीवन का ध्येय (अर्थात् लक्ष्य) पूर्ण शुद्धता, पूर्ण पवित्रता, पूर्ण निर्दोषता का निर्धार / सुनिश्चित करने में न आए तब तक किसी भी जीव की आत्मकल्याण की दिशा की ओर शुरुआत भी संभव नहीं होती। फिर वह जीव चाहे जितनी धार्मिक प्रवृत्तियाँ करता रहे तो भी उसकी वैसी प्रवृत्तियाँ ध्येयशून्य होने से वे लक्ष्य बिना के तीर की भाँति होती हैं। अनादि से जीव का ध्येय संसार है, वह ध्येय पलटकर जब तक 'पूर्णता' का न हो जाए तब तक उसकी सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ जाने-अनजाने में संसार हेतुभूत रहती हैं फलतः उनसे संसारबुद्धि ही होती है। 'पूर्णता के लक्ष से शुरुआत किये बिना, की जानेवाली सभी धार्मिक प्रवृत्तियों का मूल्य, वीतरागमार्ग में शून्यवत् आँकने में आता है।

यहाँ मुमुक्षुजीव के लिए गंभीरता से विचार करने योग्य यह प्रश्न है कि-जीन अनेक प्रकार से धार्मिक अनुष्ठान / कृत्य-प्रवृत्ति, आत्मकल्याण की आशा-अपेक्षा से करे तो भी उसे आत्मकल्याण होने के बदले संसारवृद्धि क्यों हो जाती है ?-



इस प्रश्न के बारे में ज्ञानीपुरुष के मार्ग को विचार ने पर ऐसा स्पष्ट भासित होता है कि : **धर्मप्रवृत्ति भी यथार्थ प्रकार से होनी चाहिए।**

इसी संदर्भ में कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी ने जो कहा है वह मुमुक्षुजीव को बारंबार मंथन करने योग्य है- 'परिभ्रमण करते इस जीव ने अनंतबार जप, तप, शास्त्रअध्ययन आदि किये हैं, परंतु वे ज्ञानी की आज्ञा से नहीं किये गये हैं।' 'ज्ञानी की आज्ञासे नहीं किये गये है' -इसके माने क्यां ? कि- 'यथार्थरूप से किये नहीं हैं' अर्थात् 'स्वच्छंद से किये हैं;' जिससे संसार परिभ्रमण चालू रहा है।

ज्ञानी की आज्ञा 'पूर्णता के लक्ष्य से' कार्य / क्रिया करने की है, जिससे कि वैसी धर्मक्रिया का 'अहम्' उत्पन्न न हो। जब तक पर्यायदृष्टि वर्तती है तब तक पर्याय में होनेवाली ज्ञान व व्रतादि सम्बन्धी विशेषता, प्रायः अमिनिवेश को भी साथ साथ उत्पन्न करती है; जो दर्शनमोह वृद्धिका कारण है। अतएव यदि उक्त यथार्थ प्रकार से-पूर्णता के लक्ष्यपूर्वक-कोई भी धार्मिक कृत्य करने में आये तो ही अभिनिवेश से बचा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

धार्मिक क्षेत्र में भी इस महत्त्व के विषय के प्रति प्रायः अनभिज्ञता वर्तती होने से ही अधिकतर जीव शास्त्रज्ञान प्राप्त करके अथवा तप-इत्यणादि करके भी सम्यक्त्वादि मार्ग को प्राप्त नहीं होते। जिसका कारण, ज्ञानी की आज्ञा से नहीं अपितु स्वयं की कल्पना से मनमानी धार्मिक प्रवृत्ति करने से दर्शनमोह वृद्धिगत होता है-वह है। यद्यपि धार्मिक क्रियाओं से



चारित्रमोह यत्किञ्चित् मंद होता है, तथापि उसीके 'अहम्' से दर्शनमोह- मिथ्यात्व तीव्र हो जाता है, जो संसारपरिभ्रमण का मूल है।

यहीं यह जान लेना भी अति आवश्यक है कि जिस जीव को शुद्धअंतःकरण से जन्म-मरण के चक्र से छूटना हो, उसे ही 'पूर्णता का लक्ष्य' निश्चित होता है। अतः धर्म के इच्छुक सभी जीवों को सर्व प्रथम अपने अंतःकरण की जाँच करनी आवश्यक है। जब तक अंतःकरण की शुद्धतापूर्वक 'पूर्णता का लक्ष्य' सुनिश्चित करने में न आये तब तक जीव जो भी धार्मिकप्रवृत्ति करे उसमें यथार्थता ही उत्पन्न नहीं होती है। ऐसी स्थिति में, सभी भाव-आत्मकल्याण की इच्छा आदि-उपर उपर से होते हैं, तब उनका फल कहाँ से प्राप्त हो ? परन्तु जिसका अंतःकरण शुद्ध है यानी कि जिसे छूटना ही है उसे कौन बाँध सकता है ? उसे बाँधने में कोई समर्थ नहीं है। यह सहज समझ में आए ऐसी बात है।

इस 'पूर्णता के लक्ष्य'को परम कृपालुदेव श्रीमद्जीने 'दृढ़ मोक्षेच्छा' कही है। उन्होंने पत्रांक-२५४ में यों फरमाया है कि दृढ़ मोक्षेच्छा न होनेपर 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न नहीं होती और यही जीव का सबसे बड़ा दोष है। प्रकृतिगत दोष अनेक प्रकार के हैं, उन सबको यहाँ गौण करके उन्होंने इस 'सबसे बड़े दोष' की ओर ध्यान आकर्षित किया है और 'मुमुक्षुता'का स्वरूप दर्शाया है : 'मुमुक्षुता' यह है कि सर्व प्रकार की मोहासक्ति से अकुलाकर एक मोक्ष के लिये ही यत्न करना !'

मोक्ष माने 'पूर्णता।' इसका 'लक्ष्य' अर्थात् ध्येय-जिसे है,



वही वास्तव में 'मुमुक्षु' है; वही धर्म का पात्र है। उसे ही संसार के सर्व प्रकार के मोह-प्रसंगों के आसक्ति के भाव में कहीं भी रस नहीं आता बल्कि उसे अकुलाहट होती है। उसके कारण उसे उनसे छूटने की वृत्ति सहज ही हो जाती है। जिससे वह सर्व प्रकार के मोह-प्रसंगों में कहीं भी नहीं फँसाता है। जिसका एकमात्र कारण यह 'मोक्ष का ध्येय है।' परन्तु जिसे ऐसा 'ध्येय' निश्चित न हुआ हो उसे तो मोह-प्रसंगों में मोहरस उत्पन्न हो आता है जिससे वह बंधन को प्राप्त होता है।

श्री 'आत्म-सिद्धि शास्त्र'की गाथा-३८ और गाथा-१०८ में उन्होंने 'यथार्थ मुमुक्षुता' के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए 'मात्र मोक्ष अभिलाष' शब्द के द्वारा उक्त ध्येय का संकेत किया है। जीवन का ध्येय, कोई भी उदय-प्रसंग में विस्मरण न होने से उसे 'लक्ष्य' कहने में आया है, जो स्मृति-विस्मृति से परे है। यह तो सभी के अनुभवगम्य है कि लक्ष्य में निरंतर रहते पदार्थ के लिये स्मृति की अपेक्षा ही नहीं रहती।

अब, जिसे ऐसा 'पूर्णता का लक्ष्य' हुआ हो वैसे मुमुक्षुजीव का सहज परिणमन कैसा होता है, हो जाता है, यह विचारणीय है : उस जीव को, कार्यसिद्धि हेतु गंभीरता होती है तथा कार्य के प्रति लगन व उत्कंठा रहती है। उसे सहजता (अकृत्रिमता); तथा स्वरूपप्राप्ति की अंतर की गहराई में से उत्पन्न हुई भावना व अपूर्व जिज्ञासाजन्य अंतरशोधकवृत्ति रहती है। उसको निजावलोकन द्वारा स्वच्छंद की हानि होकर पात्रता प्रगटी है। उसे प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत विषय को जुदा

करने हेतु सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टि और स्वकार्य में आगे बढ़ने के लिये वीर्योल्लास वर्तता है। उसको गुणरुचि व समय के सदुपयोग के प्रति खटक / सावधानी रहती है। सन्मार्ग के निमित्त तथा गुणों की खान ऐसे वीतराग देव-शास्त्र-गुरु और सत्पुरुष के प्रति उसे अत्यन्त समर्पण, विनय, भक्ति, बहुमान वर्तता है। उसे आत्मजागृतिपूर्वक उदासीनता, वैराग्य और उपशम दशा प्रवर्तती है। उसे विकल्पमात्र में दुःख लगता है तथा उसकी समझ में कही भी अयथार्थता नहीं रहती। स्वयं की गुरुता को गोपित रखने की उसकी वृत्ति रहती है। उसे ब्रह्मव्रत में प्रीति होती है। उसे आहार-विहार-निहार में नियमितता रहती है। उसे अपनी प्रकृतिपर नियंत्रण रहता है। उसको गहरे मंथनपूर्वक तत्त्व की सुविचारणा चलती है। उसे सरलता सर्वोपरि रहती है। ऐसी उत्कृष्ट योग्यतावान मुमुक्षु को प्राप्त हुई निर्मलता द्वारा उसे सत्पुरुष की पहचान होने से उस उनके प्रति परमेश्वर बुद्धि, एकनिष्ठता और सर्वार्पण बुद्धि समुत्पन्न होती है जिससे उसके दर्शनमोह का अनुभाग घटने से भूमिका के अन्य संभाव्य दुर्गुणों का अभाव तथा अनेक प्रकार के विपर्यास (-कुतर्क करने की वृत्ति, शंकाशीलता, लौकिक व शास्त्रीय अभिनिवेशता, ओघसंज्ञा, लोकसंज्ञा, कुतूहलवृत्ति, भेद-प्रभेद की रुचि, अतिपरिणामीपना, स्वच्छंदप्रवृत्ति, सिद्धिमोह, शुष्कता, कुसंग व असत्संगरुचि, दोष का पक्षपात, सांप्रदायिक बुद्धि, मताग्रह इत्यादिक) का अभाव वर्तता है।-जिससे उसे उत्कृष्ट पात्रता प्राप्त हो जाती है। ऐसी पात्रता से, उस मुमुक्षु को अपने ज्ञान में वर्तते ज्ञानस्वभाव के भावभासनपूर्वक, त्रिकाली परम



सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे स्वयं के स्वरूप के लक्ष्य होने की योग्यता संप्राप्त हो जाती है। जिससे उसे पूर्णपद की निःशंकता उत्पन्न होकर सर्वोत्कृष्ट पात्रता प्रगट होकर उसके परिभ्रमण का अभाव होता है।-ऐसी परमोत्कृष्ट दशा का बीज 'पूर्णता के लक्ष्य' में निहित है।

जिस स्वरूप-लक्ष्य होता है उसकी सर्वपरिणाम-प्रवृत्ति स्वरूपलक्ष्य से ही होती है। जिसमें मुख्यतया स्वरूपसन्मुखता के पुरुषार्थपूर्वक भेदज्ञान का परिणमन है। यह भेदज्ञान का पुरुषार्थ ही स्वानुभव को उत्पन्न करता है या सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, जो कि मोक्ष अर्थात् पूर्णता का बीजभूत है।

इस भ्राँति पूर्ण पवित्र सिद्धपद की प्राप्ति की श्रृंखला का आधार एकमात्र 'पूर्णता का लक्ष्य' है। अतः यह सूत्रावतार एक परम सत्य का प्रकाशन है, जिसका उद्भव स्वानुभव की गहन गुफामें से हुआ है।

आसन्न भव्यजीव को ही निजहित की सुविचारणा स्फुरित होती है। उसे ही अनंतकाल से परिभ्रमण करते-दुःखी हो रहे ऐसे अपने आत्मा के प्रति करुणा आती है और वही जीव उससे मुक्त होने का अधिकारी होता है। वैसे अधिकारी जीव को पूर्णता का लक्ष्य सुनिश्चित होते ही उसे ऐसा लगता है कि : मेरे इस महान ध्येय को प्राप्त करने में, मुझे अभी 'बहुत बाकी है' मेरा कार्य पूरे का पूरा शेष है, तदर्थ आयुष्य अल्प है, अतएव मेरा कार्य शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो, वैसी त्वरा से, अन्यत्र कहीं रुके बिना, मुझे मेरा हित साध लेना चाहिए !-ऐसी उसे निजहित की लगन लगती है। ऐसी लगन कोई कृत्रिमता से



लगाई नहीं जा सकती है। सहज लगन, तालाबेली (उत्कंठा रूप) होने से उसमें तीव्र उत्सुकता होती है। जहाँ तीव्र उत्सुकता होती है वहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता गौण होनी सहज है। इस भूमिका के ऐसे सहज परिणामों द्वारा, तथा उल्लिखित आनुषंगिक परिणामों द्वारा स्वयं को अपने 'पूर्णता का लक्ष्य' सुनिश्चित होने की खातरी हो सकती है। ऐसे 'पूर्णता के लक्ष्य' से यदि मुमुक्षु अपने जीवन की शुरुआत करे तो ही वह उसके जीवन का 'मंगल प्रारंभ' है। और ऐसे 'मंगल प्रारंभ' में सर्व सिद्धि समाई हुई है। ॐ







## परिणमन में अभिप्राय की भूमिका

'अभिप्राय' ज्ञान की एक विशिष्ट प्रकार की पर्याय है। वह जीव के समग्र परिणमन में अनेक प्रकार से महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाती हैं। सांसारिक व्यवहार में भी व्यक्ति की विचक्षणताका परिमाण-'सामनेवाले व्यक्ति के अभिप्राय को पकड़ने की शक्ति' से-किया जाता है। यहाँ उसकी चर्चा का प्रसंग नहीं है। यहाँ तो उसके विविध पहलुओं से, पारमार्थिक लाभ-नुकसान को विचार ने हेतु यह लेख प्रस्तुत है।

'अभिप्राय' शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो प्रकारके अर्थ में होता है-(१) आशय अथवा दृष्टिकोण; जो कि विवक्षित / अभिप्रेत विषय / प्रसंग तक ही सीमित है। (२) स्थायी निर्णय; जो कि ज्ञान का श्रद्धा / निर्णयप्रधान परिणमन है। अतः जहाँ जो प्रकरण हो वहाँ तदनुसार अर्थ ग्रहण करना योग्य है।

आत्मकल्याण के मार्ग के शोधक जीव के लिये 'अभिप्राय' का विषय अति महत्त्व का है; क्योंकि अभिप्राय का विपर्यास ही ज्ञान का विपरीत अभिनिवेश है और वही श्रद्धा व आचरण के सम्यक् होने में मुख्य अवरोधक है। इसीलिये 'अभिप्राय' की भूल को पूरी भूल गिनने में आई है। तथा अभिप्रायपूर्वक किये गये दोष को अक्षम्य माना जाता है।



अतएव मुमुक्षुजीव का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह सर्व प्रथम अपने अभिप्राय की भूलों को सत्संग व स्वाध्याय से निरस्त करे। और तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा यथार्थ अभिप्राय को गढ़ने का सतत उद्यम करे। जिससे वह यथार्थ श्रद्धा का कारण बने। और वैसे श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक समीचीन आचरण की संप्राप्ति होवे।

उक्त अनुक्रम को न समझने से भी जीव, अपनी बाह्य दृष्टि की प्रधानता को लेकर, अभिप्राय के दोष को दूर किये विना ही त्याग-वैराग्य अंगीकार करता है, वह कार्यकारी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि 'अभिप्राय का विपर्यास' ही सबसे बड़ा विपर्यास है। ऐसा सर्व ज्ञानियों का अभिमत है।

जहाँ अभिप्राय का विपर्यास निरस्त होकर यथार्थ अभिप्राय बनता है वहाँ तदनु रूप योग्यता स्वयं पल्लवित होती है। 'अभिप्राय' को अनुसरण करके उत्पन्न होते परिणामों का यही सिद्धांत है। जैसे कि धर्मप्राप्ति के अभिप्रायवान जीव को धर्मात्माओं के प्रति बहुमान / भक्ति सहज स्फुरित होती है, भूल से भी उसके अभक्ति के परिणाम नहीं होते। परन्तु यदि अभिप्राय का दोष रह गया हो तो उससे कदाचित् उसके अभक्ति के परिणाम हो जाते हैं। जिसने 'पूर्णता का लक्ष्य' निर्धारित किया हो उसे आत्मकल्याण का अभिप्राय बन जाने से, उसके आत्मकल्याण होवे वैसे उस भूमिका के अनुषंगी परिणाम सहज ही उद्भव होने लगते हैं।

तथा, अभिप्राय व श्रद्धा के कारण कार्य का संबंध होने से, किसी भी जीव के अभिप्राय को समझने से उसकी श्रद्धा

को समझा जा सकता है और वैसी समझ उस व्यक्ति के साथ संग करने या न करने हेतु निर्णय करने में उपयोगी होती है।

अशुभभाव का दोष स्थूल होने से वह जीव के ख्याल में आ जाता है, परन्तु स्व-पर के अभिप्राय का दोष सूक्ष्म होने से वह प्रायः ख्याल में नहीं आता, अतः उसकी और विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा जीव अनजाने में, शास्त्रअध्ययन द्वारा भी अपने अभिप्राय को पुष्ट कर लेता है जिससे भारी नुकसान हो जाता है। वास्तविकता तो यों है कि शास्त्रकर्ता के अभिप्राय के अनुसार, वहाँ अपने अभिप्राय को गढ़ना चाहिए-यही शास्त्र अध्ययन की यथार्थ रीति / पद्धति है।

तथा, अभिप्राय अनुसार ही परिणामन में मुख्यता-गौणता वर्तती है। उसमें मुख्य, वह निश्चय होना चाहिए। अन्यथा पर्याय / व्यवहार ऊपर मुख्यता के कारण, वजन चले जाने पर, वह व्यवहार साधन के बजाय साध्य की जगह ले लेता है। और इस भाँति अनजाने में भी, अनिवार्यरूप से व्यवहाराभास की उत्पत्ति हो जाती है। ऐसी अभिप्राय की भूल, जो अल्प-सी दिखलाई देती है परन्तु वह पूरेपूरी भूल है। यहाँ पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी का निम्न वचनमृत ('द्रव्यदृष्टि प्रकाश' बोल-२७८) गवेषणीय है:-

'(अभिप्राय की) जरा-सी भूल, वह भी पूरी भूल है। 'पर्याय ध्यान करनेवाली है, और 'मैं' तो ध्यान की विषयभूत वस्तु हूँ; पर्याय मेरा ध्यान करती है। 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ  
 हूँ। 'मैं' ध्यान करूँ इस बात में और 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं, 'मैं' तो ध्यान का विषय हूँ-इस बात में जरा-सा फेर लगता है, परन्तु है रात-दिन जितना बड़ा फेर। [एक में पर्याय-दृष्टि रहती है जबकि दूसरे में द्रव्यदृष्टि होती है, इतना बड़ा फेर है ॥]

तथा, यदि कथनकर्ता के अभिप्राय को छोड़कर, किसी भी कथन को समझने जायेगा, तो वैसे में उस कथन का अनर्थ हो जायेगा। जैसे कि कोई हितेच्छु कठोर वचन में उलाहना दे तो भी उसके अभिप्राय को समझने से दुःख नहीं होता है। उसी प्रकार किसी भी वचन को यथार्थ समझने हेतु यदि वक्ता का अभिप्राय समझ में आ जाए तो समझ की भूल नहीं होती है।

यदि जीव, सर्व प्रथम शुद्ध अंतःकरण से आत्मकल्याण के अभिप्रायपूर्वक धर्मप्रवृत्ति करे तो कहीं भी विपरीतता तो नहीं होती, वरन् विपरीत श्रद्धा-दर्शनमोह का बल भी अवश्य क्षीण होता है। यदि अभिप्राय की यथार्थता नहीं हो तो सर्व साधन बंधन के कारण हो जाते हैं और वहाँ आत्मश्रेय का कोई उपाय नहीं रहता। अतः सर्व प्रथम अभिप्राय की शुद्धि अति आवश्यक हैं।

तथा, शास्त्र के सभी कथन पूर्वापर अविरোধी ही होते हैं। पूर्वापर अविरोधिता, यह ज्ञानी की वाणी का मुख्य लक्षण है। उनकी वाणी, सर्वत्र आत्महित को केन्द्र में रखकर व्यक्त होती है, परन्तु जिस जीव को उसमें विरोध भासित होता है, तो यह स्पष्ट है कि उसने अपने आत्महित का अभिप्राय ही गढ़ा



नहीं है जिससे उसे समाधान नहीं होता और अनेक स्थानों पर विरोध भासता है। अतएव तत्त्वाभ्यास करनेवाले मुमुक्षु के लिए यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि ज्ञानी के वचनों में निहित आशयप्रधानता, भलीभाँति समझ में आनेपर, उसे उन ज्ञानी व उनके वचनों और शैली के प्रति अवश्य ही बहुमान स्फुरित होता है तथा उनके वचन अतिशय के भी दर्शन होते हैं।

उपदेश के परिप्रेक्ष्य में विचार करते हुए, तथा पारमार्थिक उपदेशश्रवण करते हुए भी, वह उपदेश परिणामित नहीं होने का कारण, वैसा अभिप्राय है। जो निम्न दृष्टांत द्वारा विचारणीय है -

पारमार्थिक सिद्धांत ऐसा है कि 'ज्ञान, आत्मामें से आत्मा को आत्मा से होता है' इस प्रकार के श्रीगुरु के वचन 'बराबर हैं' ऐसा मुख से कहे, तथापि 'श्रवणकाल में प्रत्यक्ष लाभ होता है' ऐसा लगे, तो वैसे में 'पर से लाभ' का अभिप्राय घुटाता है तथा दृढ़ होता है। वहाँ ऊपर ऊपर से तो 'पर से लाभ नहीं होता' ऐसा कहे परंतु उस जीव के अंदर अभिप्राय में तो लाभवृद्धि प्रवर्तती है जिसका ख्याल उसे स्वयं को नहीं आता है।

उसी प्रकार अध्यात्म के सिद्धांत में देव, शास्त्र, गुरु तथा श्रवण-वांचन, (विकल्पात्मक) विचार-मनन, ज्ञान का क्षयोपशम व एक समय की पूर्व पर्याय को और वैसे ही जिन-जिन को व्यवहार से धर्मसाधनरूप कहने में आता है, वे परमार्थ से (-निश्चय से) बाधकरूप हैं-ऐसा अभिप्राय गढ़ने में न आये, तब तक 'प्रयत्न' उसी प्रकार के बहिर्मुख परिणाम में प्रवर्तता रहता



है, जिसके कारण वह, वैसी बहिर्मुखता से विमुख होकर अंतर्मुख-त्रिकाली स्वभाव की ओर आ नहीं सकता। कारण कि 'अभिप्राय' में उन उन तथाकथित बाह्य साधनों को ही सत्य साधन के रूप में मानने से उनकी अधिकता ही बनी रहती है जिससे वह अंतर्मुख हो नहीं सकता।-इस भाँति परिणमन में मुख्यता बनाये रहने में 'अभिप्राय' का ही बड़ा योगदान है।

मुमुक्षुजीव को अधिक गुणी मुमुक्षु के प्रति तथा गुणातिशयवंत सत्पुरुष-श्रीगुरु और सत्देव के प्रति सहज बहुमान का भाव वर्तता है, स्फुरता है; क्योंकि वह स्वयं ही वैसे गुणों की प्राप्ति का तीव्र अभिलाषी है। वहाँ गुणप्राप्ति का अभिप्राय, योग्य अभिप्राय होने पर भी, अन्य जीव-पदार्थ के प्रति राग करने का अभिप्राय उचित नहीं है, करने योग्य नहीं है। यद्यपि मुमुक्षु-भूमिका में राग होना संभवित होने से वहाँ गुणज्ञता के साथ प्रशस्त राग सहज ही उत्पन्न होता है। परन्तु राग का सहज होना, और अभिप्रायपूर्वक राग करना अथवा राग करने का अभिप्राय होना, इसमें पूर्व-पश्चिम जितना अंतर है। जिन्हें अभिप्रायपूर्वक वैसा राग होता है उन्हें तो 'राग-रस' चढ़ जाता है और साथ ही राग करने का 'विपरीत अभिप्राय' भी दृढ़ हो जाता है। परन्तु यदि अभिप्रायविरुद्ध राग हो तो उसके प्रति सहज निषेध-खेद आता है। वस्तुतः 'अभिप्राय' में परपदार्थ की महत्ता-महानता का स्वीकार हो जाये तो वह निज अनंत सामर्थ्य के अस्वीकार ने जैसा भारी दोष है, जो स्वरूपश्रद्धान का प्रतिबंधक है। इसीलिए ज्ञानदशा में अभिप्राय की भूल नहीं होती। ज्ञानी को सच्चे निमित्तों-पंच परमेष्ठी आदि के प्रति मचक आती है तो



भी वे उनसे लाभ नहीं मानते हैं।

जो कोई जीव राग के अभाव करने का इच्छुक हो उसे प्रथम सर्व परपदार्थों के प्रति इष्ट-अनिष्टत्व का अभिप्राय निरसन करना आवश्यक है। परपदार्थ तो ज्ञेय मात्र हैं, उनमें इष्ट-अनिष्टपना है ही नहीं; तथापि अनादि विपरीत अभिप्राय के कारण उनमें भला-बुरा लगता है, वह कल्पना है, भ्रान्ति है; जो स्वरूप-विपरीतरूप अभिनिवेश है। जब तक 'अभिप्राय' में परपदार्थ के प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि वर्तती है तब तक उदयकाल में आत्मजागृति उत्पन्न ही नहीं होती। तथा अस्ति का (-आत्मप्रत्ययी) पुरुषार्थ ही नहीं चल सकता। अतएव सर्वप्रथम अनुभवपद्धति-प्रयोगपद्धति द्वारा 'अभिप्राय' पलटे तब ही ज्ञायकपने का-अस्ति का पुरुषार्थ अभरता है और वह सफल होता है। इस प्रकार ज्ञाता भाव से-साक्षीभाव से रहने के पुरुषार्थ में 'अभिप्राय' की भूमिका का विशेष महत्त्व है।

जब तक जीव 'बंधबुद्धि से' यानी कि 'मैं कर्मजनित पर्यायवाला हूँ' ऐसे अभिप्राय में वर्तता हो तब तक उसे अपना मूल स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता है। ऐसे में भी जो अपने को अबंध-ज्ञायकस्वरूप में कल्पना द्वारा माने तो उसे निश्चयाभास की उत्पत्ति होती है और वह कर्मप्रसंग को सुख-दुःखरूप से अनुभव करता है। वहाँ विपरीत अभिप्राय से उत्पन्न सुखाभास को दूर किये बिना अस्ति का-ज्ञायक का पुरुषार्थ उपड़ता ही नहीं है। ज्ञायकतत्त्व की परलक्ष्यी धारणापूर्वक विकल्प या वाणी में चाहे जितना जोर देने में आये तो भी उससे सफलता नहीं मिलती। क्योंकि वह मात्र कृत्रिम पुरुषार्थ है। और वैसी



कृत्रिमता से कार्यसिद्धि होती ही नहीं है। अतः सिद्धांत ऐसा है कि: 'मुक्त होने का अभिप्राय गढ़ाये बिना 'बंधबुद्धि' नहीं छूटती।' इसीलिये जीव, पर में सुख बुद्धि के कारण, निरंतर बंधन को प्राप्त होता रहता है। 'यह बंधबुद्धि सुखबुद्धिरूप अभिप्राय' मुमुक्षु की भूमिका की योग्यता को रोकता है, आवरित करता है, मलिन करता है। जहाँ अभिप्रायपूर्वक शाता के कारण रुचते हैं, प्रिय लगते हैं वहाँ मुमुक्षु की योग्यता नष्ट होती है, जिससे वह निजश्रेय के मार्ग में गतिमान् नहीं हो सकता है। तथा स्वयं ही निरालंब-निरपेक्षपने अनंत अव्याबाध, अचिन्त्य सुखस्वरूप है-ऐसा उसे भासित नहीं होता है। अत एव उक्त 'अभिप्राय की विपरीतता' आत्मश्रेय में किस किस प्रकार से अवरोध खड़े करती है, वह गहराई से विचारणीय है।

तथा, जब तक अभिप्रायपूर्वक पर में सुख अनुभवाता है तब तक परिणामों की दिशा-वृत्ति का प्रवाह बहिर्मुख ही बना रहता है। जिससे अंतर्मुख हुआ नहीं जा सकता है। अंतर्मुख होने की इच्छा भी सफल नहीं होती तथा अंतर्मुख होने के प्रयोजन से किये ध्यानादि के प्रयोग भी निष्फल जाते हैं। अतः भेदज्ञान के प्रयोग द्वारा (केवल विकल्प नहीं), निज चैतन्य-तत्त्व में सुख का अभिप्राय प्रथम गढ़नें में आये तब ही परविषयों में सुख का अभिप्राय नष्ट होकर, उनसे सहज उदासीन होकर, जीव की वृत्ति का प्रवाह सहज ही अंतर्मुख ढलता है। इस भाँति जीव के परिणामों की दशा पलटने में अभिप्राय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

पर में-पुद्गल में सुखबुद्धि के कारण जीव का अभिप्राय,





एक ही साथ में जगत के सर्व-अनंत पदार्थों को प्राप्त करने व भोगने का होता है। परन्तु वैसा बनना अशक्य है। तथापि विपरीत अभिप्राय के कारण जीव को अनेक पदार्थों की इच्छायें व उन इच्छाओं की पूर्ति हेतु अनेक प्रकार के उपाधियुक्त परिणाम होते ही रहते हैं। जिन्हें लेकर जीव को अज्ञान अवस्था में अनंत दुःख है।-इस प्रकार अभिप्राय का विपर्यास अनंत दुःख को उत्पन्न करता है। जब तक भेदज्ञानपूर्वक आत्मा में सुखबुद्धि न हो तब तक यह दूर नहीं होता, और इच्छाओं का निरोध हो नहीं सकता जिससे आकुलता बनी ही रहती है।

तत्त्वज्ञान का अभ्यास करनेवाले जीव को यदि 'अभिप्राय की भूल' रहे तो उसे व्यवहाराभासीपना अथवा निश्चयाभासीपना अथवा प्रमाण का पक्ष हो जाता है। जिससे, तत्त्वज्ञान का अभ्यास सम्यक्त्व प्राप्ति का निमित्त होनेपर भी, वह निष्फल होता है। मात्र आत्महित के अभिप्राय से तत्त्वाभ्यास हो तो वैसी भूल नहीं रहती है। अतः तत्त्वाभ्यासी जीव को अंतर सूक्ष्म अवलोकन से अपने अभिप्राय की जाँच कर लेनी चाहिए। अन्यथा बुद्धिपूर्वक की भूल होने से मिथ्यात्व तीव्र होकर गृहीतमिथ्यात्व उत्पन्न होता है।

मुमुक्षुजीव को निर्विकल्पदशा, मुनिदशा, मोक्षदशा आदि अध्यात्म / शांतदशा की भावना होती है। परंतु 'यह दशा घ्रुवस्वरूप के आश्रय से सहज होती है' ऐसा यथार्थ अभिप्राय हो, तो सहज वैसी पर्याय की योग्यता हो जाती है। अन्यथा पर्याय की कर्ताबुद्धि सहित भावना होती है, उसमें अभिप्राय की भूल रही होने से, वह भावना सफल नहीं होती। बल्कि पर्यायबुद्धि



तीव्र हो जाती है। अतएव भावनाप्रधानी न होकर अभिप्रायप्रधानी होने से 'योग्यता' सहज ही उत्पन्न होती है। पर्यायबुद्धि के निषेध के लिए ही परमागमों में पर्याय के प्रति उदासीनता तथा 'क्रमबद्धपर्याय' के न्यायों का प्रतिपादन हुआ है।

उसी प्रकार, शास्त्रों में मुमुक्षु की भूमिका में सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में, उनके प्रतिमानुसार के पंचम गुणस्थान में तथा मुनिदशा में छठे गुणस्थान में व्यवहार के परिणामों का निरूपण किया हुआ है। वहाँ निश्चय रत्नत्रयरूप वीतरागता के सद्भाव के कारण उस उस कक्षा के राग का अभाव हुआ है, ऐसा दर्शाने का अभिप्राय रहा है। जो स्वयं की दशा के साथ मिलान करने के प्रयोजनार्थ होने से उसे जानना जरूरी है। परंतु वैसे राग-परिणाम करने का अभिप्राय नहीं है। कदाचित् शास्त्रों में उपदेशबोध की शैली से वचन - व्यवहार से 'व्यवहार करना' ऐसा प्रतिपादन हुआ हो, तथापि, योग्यतावश वैसा उस काल में सहज (-कर्तव्य बिना) राग होता है-ऐसा दर्शाने का अभिप्राय जानने योग्य है। उसके बदले 'ज्ञानी को भी राग होता है' ऐसे बहाने से, मुमुक्षु को राग करने का अभिप्राय पुष्ट होवे तो उसे आस्रव की भावना होकर, स्वरूप का निषेध हो जाता है। अथवा राग का आदर होकर स्वभाव का अनादर होता है। अतः शास्त्राभ्यास करनेवाले मुमुक्षु को, जानने के विषय की खतौनी आदर ने के विषय में न होवे, ऐसी सावधानी रखना हितावह है। जिस प्रकार राग करने के अभिप्राय में, आस्रव की भावना द्वारा स्वभाव का निषेध होता है; उसी प्रकार पूर्ण शुद्धि के अभिप्राय में, आत्मभावना द्वारा स्वभाव का आदर



रहा है।-इस भाँति आत्महित-अहित के प्रकरण में उल्टे-सीधे अभिप्राय का बहुत बड़ा आधार (Role) है।

तथा, जीव के 'अनुमोदना विषयक परिणाम' अभिप्रायपूर्वक ही होते हैं। अतः इस विषय में विशेष लक्ष्य में लेने योग्य यह है कि : जब किसी भी अन्य जीव के दोषित / विराधक परिणामों की जाने-अनजाने में अनुमोदना हो जाती है, तब तत्संबंधित आस्रव शुरु हो जाता है। और जब तक वह 'अनुमोदन विषयक अभिप्राय' यथार्थ प्रकार से निरस्त नहीं होता तब तक वैसा आस्रव बंद नहीं होता। तत्संबंधी अनुमोदना के गर्भ में विपरीत अभिप्राय समाया हुआ है, जो महाअनर्थसर्जक है; कारण कि वह दोषदृष्टि है; जो गुणदृष्टि (स्वभावदृष्टि) को उत्पन्न ही नहीं होने देता। अर्थात् जीव की अनादि से जो दोषदृष्टि प्रवर्तती है वह उक्त विपरीत अभिप्राय से विशेष पुष्ट / दृढ़ हो जाती है और फलस्वरूप स्वभावदृष्टि प्रगट होने में वह विशेष प्रतिबंधक होती है। इसीलिये जिस की निजहित के प्रयोजन की दृष्टि तीक्ष्ण और सूक्ष्म होती है उसे ही उक्त प्रकार की अनुमोदना में निहित ऐसे इस महादोष की तथा उसकी गंभीरता की समझ पड़ती है जिससे वह किसी के भी दोष की, नवकोटि से अनुमोदना नहीं करता।

तथा, जब कोई भी बात अन्य की ओर से प्रस्तुत करने में आती है, तब वैसी प्रस्तुति में, प्रस्तुतकर्ता स्वयं का अभिप्राय अथवा सम्मति शामिल रहती है। वहाँ यदि अभिप्राय न पकड़ने में आये तो प्रस्तुतकर्ता अनजाने में मायाचार का सेवन कर लेता है। जैसे कि जिव अन्य के नाम से (समाजभय से,



समाज के बहाने से), सत्य का अस्वीकार करता है तब उसमें अपना अभिप्राय भी समाया हुआ रहता है; अतः उसमें अनुमोदनरूप दोष हो जाता है।

तथा, मुमुक्षु को 'अभिप्राय-दोष' संबंधित अज्ञानता के कारण भी कार्यपद्धति / विधि की भूल होती है, जिसे अत्यंत गंभीरता से लक्ष्यगतकरना चाहिए। जैसे कि, परमस्वरूप का आत्मीयभावरूप 'भावभासित' हुए बिना, यानी कि राग की ओट बिना-स्पष्ट अनुभवांश से स्वसन्मुखता में स्वयं स्वभावरूप से लक्ष्यगत हुए बिना, चैतन्यवीर्य की स्वरूपप्रत्ययी सहज स्फुरणा उद्भव नहीं होती; तबतक जीव की 'पर्याय में अहंभावरूप' बुद्धि वर्तती रहती है। और वैसी स्थिति में, यानी कि 'पर्याय में स्वपना' रखकर, धारणा में अर्थात् राग की प्रधानतायुक्त विचारधारा में ली गई/ कल्पित वस्तु का चिंतवन-घूँटन आदि करके जीव जैसे अयथार्थ प्रयास को पुरुषार्थ मानकर, उसमें ठीकपना अनुभव करता है- ऐसे कृत्रिम प्रयत्न / पुरुषार्थ के अभिप्राय निरस्त किये बिना, यथार्थ विधि ग्रहण किये बिना, कदापि कार्यसिद्धि होती ही नहीं। परंतु जैसे में प्रायः नुकसान ही होता है। अभिप्राय की भूल के कारण, मुमुक्षुजीव भी, भीतर में अपने आत्मस्वरूप को न देखने से, तत्त्वश्रवण-वांचन करते करते आत्मलाभ होने का अभिप्राय रखता है और वैसी शुभराग-प्रधान प्रवृत्ति / राग करते करते कार्यसिद्धि (-सम्यक्त्वादि) होने के, अभिप्रायवश, वैसी प्रवृत्तियों को बढ़ाता है; जो विधि की भूल है। मुमुक्षुता में मोक्षार्थी को शुभ-प्रवृत्तियों का 'सहज होना', एवं वैसी प्रवृत्तियाँ करने का 'अभिप्राय होना';-दोनों प्रकारों में बड़ा भारी फर्क



है। वास्तव में तो स्वलक्ष्यपूर्वक तत्त्व-श्रवण होते ही अंतर्मुख होने का प्रयास शुरू होना चाहिए। एवं जब तक वैसा न होवे तब तक उसे, 'कार्य किस भाँति सिद्धि हो' ऐसी जिज्ञासा में रहना हितकर है। यानी कि, जब तक सत्यमार्ग की प्राप्ति न होवे तब तक उसकी जिज्ञासा और शोधकवृत्ति में रहना उचित है।

तथा, मिथ्यादृष्टिजीव को पर्याय व संयोग में उलट-फेर करने का अभिप्राय होता है; जिससे वह वैसा कृत्रिमपुरुषार्थ (कर्तृत्वभावपूर्वक) करता रहता है; तथापि 'जो होना होगा वह होगा'-ऐसा मात्र धारणा से कहे, तो वह प्रकार यथार्थ नहीं है।-ऐसे अभिप्राय के कारण, जीव को निष्क्रिय चैतन्यस्वभाव की दृष्टि हो नहीं पाती। और वैसी सम्यक् दृष्टि के अभाव में, सहज स्वाश्रित पुरुषार्थ स्फुरित नहीं होता। विकल्पात्मक पुरुषार्थ असहज / कृत्रिम पुरुषार्थ है; उसमें भी 'विधि की भूल' निहित है।

तथा जब तक तत्त्वज्ञानाभ्यास कर्ता की बाह्य दृष्टि हो, तब तक उसका ऐसा अभिप्राय बना रहता है कि शास्त्र वांचन द्वारा अथवा श्रवण द्वारा समाधान होगा; जिससे वह, 'सर्व समाधान का भंडार, त्रिकाली चैतन्य द्रव्य वर्तमान में ही मैं हूँ'-ऐसी अभेद दृष्टि नहीं कर सकता।

'ऐसी' अभेद दृष्टि होने के पश्चात् भी प्रश्नरूप विकल्प होता है, तथापि जैसे विकल्प से भिन्न, 'ज्ञानक्रिया' जो सहज स्वाश्रित वर्तती है, वह स्वयं समाधानरूप है; उसमें बाह्य से / पर से समाधान प्राप्ति हेतु प्रश्न को लम्बाने का अभिप्राय नहीं



रहता। कारणकि उन्हें समय-समय की 'अहेतुक योग्यता' का ज्ञान इस प्रकार से वर्तता है कि, जिससे उस योग्यता में उलट- फेर करने का अभिप्राय नहीं होता है। उसी भाँति वर्तमान 'योग्यता' भी त्रिकाली स्वरूप सन्मुखता में वृद्धिगत होकर, पूर्ण अभेद होकर, सर्वांग समाधान हो जायेगा।-वैसी प्रतीति, उक्त अभिप्राय में गर्भित है। अतएव भावलिंगी मुनिराज भी आचार्य महाराज को प्रश्न करे उस क्षणिक विकल्प काल में भी, 'समाधान' बाह्य से होगा अथवा होना ही चाहिए-ऐसा 'अभिप्राय', उनको प्रश्नकाल में भी नहीं होता।

तथा, जीव के विकारी परिणाम में 'मिथ्या अभिप्राय'का बलवान आधार होने से उसे दूर करना दुष्कर है। तथापि जिस जीव का अभिप्राय सम्यक् हो तो उसके विभाव की कमर टूट जाती है। अतएव जिसकी विभावशक्ति क्षीण हुई है ऐसे धर्मात्मा को विभाव लम्बे समय तक जीवित ही नहीं रह सकता; बल्कि वह अल्पकाल में विलय हो जाता है। कारण कि जब पूर्व संस्कारवश उन्हें क्षणिक विभाव उत्पन्न हो जाता है तब उसका उसी क्षण अभिप्राय में निषेध वर्तता है।

तथा, जिस प्रकार राग करने का अभिप्राय एकान्तिक निषेध्य है उसी प्रकार परसत्तावलम्बी ज्ञान के व्यापार का अभिप्राय भी एकान्तिक निषेध्य है। कारण कि उपयोग बाहर जाने पर राग की उत्पत्ति अवश्य होती है। अतः परसत्तावलंबनशील ज्ञान मोक्ष-साधक या आत्म-साधक नहीं होता। यद्यपि कार्यपद्धति में क्रमविपर्यास न रहे इसलिये, तथा छद्मस्थअवस्था में अनिवार्यरूप से उपयोग की बाह्य प्रवृत्ति रहती होने से, देवादि का बाह्य



आलंबन लेने के संबंध में विवेक करने का प्रतिपादन करने में आया है; तथापि वह, अभिप्राय के दृष्टिकोण से तथा वैसा आलंबन बाधकरूप होने से, स्वीकार्य नहीं है। अभिप्राय में तो प्रथम से ही परसत्तावलंबनता का निषेध ही होना चाहिए। अन्यथा विधि की भूल होने से वहाँ दर्शनमोह वृद्धिगत हो जाता है। यद्यपि धर्म-प्रवृत्ति दर्शनमोह के मंद होने में निमित्त है; यथापि यदि उक्त प्रकार से अभिप्राय की भूल रह जाये तो उलटा दर्शनमोह तीव्र हो जाता है और उसके कारण मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती। तथा भ्रमणावश बंधमार्ग को मोक्षमार्ग मानकर, उसकी उपासना कर, जीव संसार बढ़ाता है।

तथा, स्वयं का मूल स्वरूप त्रिकाली घुव, परमस्वरूप, अपरिणामी और अक्रिय है। परिणाम स्वयं परिणमनशील है जो वस्तु का अंग है। जो स्वयं परिणमन कर रहा हो, उसे परिणमन कराने का 'मिथ्या अभिप्राय' परिणाम के एकत्व को उत्पन्न करता है, जिससे स्वयं को 'परिणाम मात्ररूप' अनुभव में लेने में आता है, वह पर्यायदृष्टिरूप मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि को तो 'मैं वर्तमान में ही अपरिणामी हूँ' ऐसी द्रव्यदृष्टि वर्तती होने से, उसके अभिप्राय में, सर्व परिणाम गौण हो जाते हैं। ज्ञान-पुरुषार्थ आदि सर्व गुण अपना अपना स्वाभाविक कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार से अपरिणामी तत्त्व के अभिप्राय में सर्व क्रिया करने की उपाधि शांत हो जाती है।

तथा, कोई मुमुक्षुजीव अपने आत्मस्वरूप को विकल्पप्रधानता से समझता है; और वैसे समझ में लिये हुए स्वरूप की एकांत



में एकाग्रता करने हेतु-निर्विकल्प आनंद के अनुभव हेतु आशा रखता; वहाँ स्वयं को अनुभव हुआ या नहीं ? ऐसे विचार चलते हैं।-ऐसे प्रकार में, अनुभव होने के पूर्व, अनजाने में स्वयं के कल्पित अनुभव से, अनुभव में संतोष करने का अभिप्राय निहित रहता है, जो पर्यायबुद्धि के कारण होता है।

परंतु ज्ञानी का तो ऐसा अभिप्राय रहता है कि, दशा निरंतर निर्विकल्प रहे तो भी, स्वभाव की मुख्यता में, उसकी मुख्यता करने योग्य नहीं है; कारण कि स्वभाव स्वयं ऐसा ही कोई महाआश्चर्यकारी महिमावंत है। तथा जैसा परिपूर्ण स्वरूप है तैसी ही दशा होनी वैसा आत्मस्वभाव है ही। और वैसा स्वभाव वर्तमान में ही कार्यशुद्धि के कारण स्वरूप जिन्हें प्रत्यक्ष है, उन्हें उत्पाद-अंश की शुद्धता-अशुद्धता की विकल्पना-चिंता नहीं रहती, नहीं होती। वैसी चिंता तो पर्यायबुद्धिवाले की मिथ्यादृष्टि के कारण से होती है। अभिप्राय की ऐसी सूक्ष्म भूल तत्त्वाभ्यासी जीवों को गवेषणीय है।

अंत में, श्री जिनशासन की तीर्थ-प्रवर्तन का 'अभिप्राय' के दृष्टिबिंदु (View Point) से विचार करते हुए ऐसा समझने में आता है कि : जो महाभाग्य आत्मा, आत्मा के आनंदामृत के आस्वाद का अनुभव करती है, वह उसी में-आत्मानंद में ही निमग्न रहना चाहती है। वैसे धर्म-जीव का अन्य सर्व संसारी जीवों के प्रति ऐसा सहज-स्वाभाविक अभिप्राय होता है कि : 'जगत के समस्त जीव ऐसे निजानंद को संप्राप्त हों, समयमात्र के अनवकाश से निजानंद के कारण को और उस कारण के कारण को भी प्राप्त हों।' इस सिद्धांत के मूर्तिमंत साक्षीस्वरूप,



तत्त्वानुशीलन

१७

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

त्रिलोकनाथ परमात्मा श्री ऋषभदेवादि सर्व तीर्थकर देव हैं।

इस ही कारण से श्री जिनशासन प्रवर्तित हुआ है, प्रवर्तित है और प्रवर्तता रहेगा।

ॐ शांति





## भक्ति

यद्यपि हर एक सम्प्रदाय ने 'भक्ति' को रूढिगतरूप से मान्य किया है। और तदर्थ प्रायः भजन, संकीर्तन, पद्यरचना और गाना-गववाना इत्यादिक प्रकार से प्रवृत्तियाँ भी करने में आती हैं। तथा कहीं तो प्रभु व गुरुसेवा / समर्पणतादि प्रकारों को भी भक्ति के रूप में स्वीकारा जाता है। तथापि भक्ति को मात्र इतनी ही मर्यादा में मान्य करना योग्य नहीं; क्योंकि इसकी गहनता अत्यंत परमार्थ हेतुभूत है। अतः इस विषय को, अति गंभीरतापूर्वक, अनेकविध पहलुओं से निज आत्मश्रेयार्थ विचार करना चाहिए। इसी परिप्रेक्ष्य में यहाँ यत्किंचित् विचार प्रस्तुत हैं-

सर्वप्रथम यहाँ 'भक्ति' के विषय में यह गवेषणीय है कि: लोक में प्रायः 'भक्ति' को रूढिअर्थ अनुसार शुभराग की प्रवृत्ति / पर्याय समझी-मानी जाती है। कारण कि अधिकांश धार्मिकक्षेत्र में ओघसंज्ञापूर्वक रागमय भक्ति की प्रवृत्ति प्रचलित है। परंतु वास्तव में यदि 'भक्ति का मूल' अन्वेषण किया जाए तो वह केवल रागमय परिणाम नहीं है; बल्कि जो मुमुक्षु सर्व प्रकार की मोहासक्ति से अकुलाकर, एक मात्र पूर्ण शुद्धि के लिये ही प्रयत्नवंत है, ऐसे अधिकारी मुमुक्षु के ज्ञान में, धर्म और

धर्मात्मा के अंतर स्वरूप की पहचान द्वारा, उनका मूल्यांकन भासित होने से, उसके ज्ञान में उनके प्रति सहज ही बहुमान स्फुरायमान होता है, और वैसा 'ज्ञान' ही वास्तव में 'भक्ति का मूल' है, 'स्वरूप' है। अतएव प्रस्तुत संदर्भ में यों फलित होता है कि: भक्ति को जिस रुढिगत अर्थ में केवल शुभराग की ही पर्याय समझने-मानने में आती है वह पर्याप्त नहीं है। परंतु यदि वस्तुस्थिति से उसके मूलस्वरूप के बारे में सोचा जाए तो यह सहज स्पष्ट हो सके ऐसा है कि, वैसा प्रकार ज्ञान की पर्याय है; क्योंकि उसमें यथार्थ समझ / मूल्यांकन का प्रभुत्व प्रगट है।

तथा, भक्ति का लक्ष्यार्थ तो आत्मा, निजपरमात्मभाव में एकरूप (तदाकार) हो जाये वह है। स्वयं का अनंत सामर्थ्य यानी कि अपना साक्षात् सिद्धपद, अपने स्वरूप-सन्मुख ज्ञान में प्रतिभासित होनेपर, अपने अनंत महिमावंत-परम पदार्थ के प्रति परम महिमा अर्थात् 'उसरूप' भक्ति उत्पन्न होकर, अभेददशा संप्राप्त हो जाए तब आत्मा निजपरमात्मभाव में एकरूप होता है; और वैसी स्वानुभूति में 'सर्वजिनशासन की भक्ति और बहुमान' समाहित हो जाता है। इसीलिए धर्मात्माओंने उसका बहुत बखान किया है।

उसी भाँति 'भक्ति' के लक्ष्यार्थ में परमार्थ समाया हुआ होनेसे, तथा वह सर्व दोषों की निवृत्ति की हेतुभूत होनेसे, उसे (भक्ति को) परम कृपालु 'श्रीमद् राजचंद्रजी' ने 'श्रेष्ठ मार्ग' कहा है।

अतएव मुमुक्षु को भक्ति के प्रकरण की, उसके आशय

की स्पष्टता के लिये और लक्ष्यार्थ हेतु उसके यथार्थ स्वरूप को गुरु गम द्वारा समझकर, उसका अवगाहन करना परम आवश्यक है।

अब यहाँ उल्लेखनीय है कि : 'भक्ति' के मुख्य दो भेद हैं - व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति। तथा उसके विशेष भेद अनेक हैं।

❖ **व्यवहारभक्ति** :- सद्देव प्रति की भक्ति, सद्गुरु और सत्श्रुत-सिद्धांत प्रति की भक्ति। उसी तरह साधर्मी प्रति की भक्ति। यह व्यवहारभक्ति, अनादि संसार प्रति की भक्ति का निषेध करती है।

❖ **निश्चयभक्ति** :- निज परमात्मस्वरूप के सम्यक् रत्नत्रयमय-परिणामरूप से परिणमन करना। ऐसे परिणाम का निरूपण, अध्यात्मशास्त्रों में विविध शैली द्वारा करने में आया है। अध्यात्मरस से सराबोर भावों से, इस निश्चयभक्ति का प्रतिपादन करनेवाले संतों और महात्माओं का आंतरिक व्यक्तित्व वंदनीय है, अभिवंदनीय है। यह निश्चयभक्ति, व्यवहारभक्ति का निषेध करती है, कारण कि यह उससे पर है।

तथा, भक्ति में अनेक गुण-धर्म होनेसे, सत्सशास्त्रों में तद्विषयक विविध भेदों का अनेक नाम से उल्लेख देखने में आता है। यथा : १. नामभक्ति। २. सकामभक्ति। ३. निष्कामभक्ति। ४. आश्रयभक्ति। ५. प्रेमभक्ति। ६. मार्गभक्ति। ७. पराभक्ति। ८. अभेदभक्ति। ९. रहस्यभक्ति। १०. योगभक्ति। ११. निर्वाणभक्ति। १२. श्रुतभक्ति।-इनका संक्षिप्त वाच्यार्थ निम्न है:-



❁ **नामभक्ति** :- कथानुयोग में श्रीतीर्थकरादिपुराणपुरुषों के चरित्रों द्वारा उनके उपकारका स्मरण होता है। तथा उनकी दृढ़ आत्मनिष्ठता और भीष्म पुरुषार्थ के दर्शन होनेपर उनके प्रति बहुमान के परिणाम स्फुरायमान होना, वह नामभक्ति है।

ऐसा प्रकार व्यक्ति-राग नहीं है अपितु वह गुणानुराग है। जिसमें वैसे सर्व गुणवान महात्माओं प्रति का भक्तिभाव समाविष्ट है। एक महात्मा के आदर में, वैसे सर्व (महात्माओं) का आदर, स्पष्ट अभिप्रायपूर्वक अभिव्यक्त होता है; वह ज्ञानादि गुण प्राप्ति का कारण है।

❁ **सकामभक्ति** :- भौतिक पदार्थों की कामना-निदानपूर्वक की जानेवाली भक्ति, वह सकामभक्ति है। इससे ज्ञान को आवरण आता है। इसमें अशुचि आदि दोषों का संभव है। और वह संसार परिभ्रमण का कारण होने से त्याज्य है।

❁ **निष्कामभक्ति** :- सर्व प्रकार की कामना / आसक्ति रहित परिणाम से, अपने आत्मकल्याण में निमित्तभूत ऐसे पंचपरमेष्ठी, सत्पुरुष और उनकी वाणीरूप श्रुत-सत्शास्त्रों के स्वरूप को पहचानकार उनके प्रति अत्यंत उल्लसित भाव होना, वह निष्कामभक्ति है। ऐसी भक्ति स्वयं पवित्र होने से वह आत्मगुण बुद्धि का तथा दोष निवृत्ति का कारण है। निःस्पृहता के आश्रय से अनेक गुण समुत्पन्न होने से उसका विशेष महत्त्व है।

❁ **आश्रयभक्ति** :- मुमुक्षु / आत्मार्थीजीव को विद्यमान सद्गुरु-सत्पुरुष की पहचान और प्रतीतिपूर्वक, सर्वार्पणबुद्धि से उस महापुरुष के चरण-शरण के आश्रय से वर्तने का दृढ़ निरधार हुआ हो; वह प्रकार ऐसा कि उसे उस महापुरुष की



विद्यमानता में तो उनके चरण-सान्निध्य में निरंतर वास करने का अभिप्राय तो वर्तता ही हो किंतु यदि वैसे रहना बनता न हो अथवा उनकी अविद्यमानता-परोक्षता अथवा विरह ही तब वह आश्रयभाव विशेषरूप से दृढ़तर हो, वह आश्रयभक्ति है।

अनादि से जीव में जो मान और स्वच्छंद जैसा रूढ / प्रबल महादोष प्रवर्तता है, उसे टालना बहुत दुष्कर है। तथापि वैसे महादोष भी बैसी आश्रयभक्ति से सहज मात्र में नाश होकर, आर्जवता (सरलता) और मार्दवता (नम्रता) आदि गुण प्रगट होते हैं। उसी भाँति मार्गप्राप्ति की परम योग्यता की संप्राप्ति होती है। जितने प्रमाण में आश्रयभक्ति दृढ़ हो उतने ही प्रमाण में सत्पात्रता प्रगट होती है।

❖ **प्रेमभक्ति** :- सुपात्रतावश मुमुक्षु को ज्ञानी धर्मात्मा की पहचान होने से, उनके प्रति अत्यंत प्रेम-परिणामों का प्रवाह निरंतर प्रवाहित रहे, और 'पर प्रेम प्रवाह बढे प्रभु से-ऐसा परिणाम सत्पुरुष के प्रति सर्वार्पणबुद्धि से उत्पन्न हो, वह प्रेमभक्ति है।

इस परिप्रेक्ष्य में पूज्य श्री सोभाग्यभाई एक जीवंत उदाहरण हैं। परम कृपालु श्रीमद्जी स्वयं लिखते हैं कि 'श्री सोभाग्य प्रेमभक्ति में झूल रहे हैं।' दोनों के बीच एक क्षण का भी वियोग पुसाता नहीं था। सत्पुरुष के प्रति इस प्रकार का प्रेमभाव आत्मरुचि का द्योतक है और वह समभक्ति का भी बीज है।

तथा, अंतर में गुणनिधानरूप निज आत्मस्वरूप की स्पष्ट अनुभवांश से पहचान होने पर, स्व-रूप की अनन्य रुचि उमड़ना, वह निज प्रभु की प्रेमभक्ति है, जो समभक्ति की अंगभूत है।

❖ **मार्ग भक्ति** :- मोक्षमार्ग में स्थित सर्व धर्मात्माओं के

प्रति बहुमान के परिणाम होना, मार्गभक्ति है। उसी भाँति जिन के अंतर में त्रिलोकनाथ वश हुए हैं, ऐसा होनेपर भी जो बाह्य में अटपटी दशा से रहते हैं, यानी कि इतनी अधिक समर्थता होनेपर भी जिन्हें गर्व नहीं है, गारव नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, ऐसे आश्चर्य की प्रतिमारूप सत्पुरुष के प्रति; एवम् स्वरूपगुप्त हो जाने से जो बाह्याभ्यंतर निर्ग्रथ दशा से बिराजमान हैं, ऐसे उनके परम संयम के प्रति; भक्ति के परिणाम सहज ही उल्लसित होते हैं, वह मार्गभक्ति है।

तथा अंतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना हेतु उल्लसित वीर्य के परिणाम, निश्चयमार्ग भक्ति है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि, जिनके दर्शनमोह का अभाव वर्तता है, ऐसे मोक्षमार्ग में विचरण करते महात्माओं के प्रति मुमुक्षुजीव को विनय-बहुमान होने पर उसके दर्शनमोह का अनुभाग घटता है, जिससे उसको मार्ग की निकटता होती है। 'मार्गभक्ति' यह गुरु-भक्ति है अर्थात् महान् पुरुष की भक्ति है।

❖ **पराभक्ति** :- चरम सीमा के भक्ति-महिमा के परिणाम होना, पराभक्ति है। जब आत्मा को अपने अनंत महिमावंत स्वरूप की पहचान होनेपर, स्वरूप-महिमा वृद्धिगत होकर, तादात्म्य भाव होता है, वह पराभक्ति है। उसे 'सर्वार्थसिद्धि' में स्वरूप-भावनारूप भक्ति की संज्ञा दी है।

❖ **अभेदभक्ति** :- स्वस्वरूप के आश्रय से आत्मा के सर्व परिणामों का अभेदभाव से परिणमित होना, अभेदशक्ति है। निज परमात्मा के साथ अभेदता सधानेपर, स्वरूप संबंधी कोई भेद-विकल्प (शेष) नहीं रहता है और निर्विकल्पदशा संप्राप्त होती



है। आत्मा, अनंत दिव्य गुणों से भरितावस्थ है। गुण, परस्पर भिन्न भिन्न होनेपर भी वे आत्मीयरूप से अभेद हैं। ऐसे अभेदस्वरूप की दृष्टि में, गुणभेद की अपेक्षा भी निरस्त हो जाती है। तथा सर्व भाव से अभेदता सधाती है।

❖ **रहस्यभक्ति :-** श्री जिनवाणी में व्यवहार और निश्चय भक्ति का प्रतिपादन हुआ है, उसमें रहस्य समाया हुआ है। वह रहस्य यदि लक्ष्यगत हो, तो जीव सुगमता से परमार्थ को संप्राप्त होता है। ज्ञानमार्ग द्वारा तथा क्रियामार्ग द्वारा परमार्थ साधने में जो दुराराध्यता है वह भक्तिमार्ग द्वारा नहीं होती, यही भक्ति का रहस्य है। यद्यपि ज्ञान का मूल्य (विशेषता) सर्वविदित है तथापि 'भक्ति बगैर ज्ञान शून्य है'- परम कृपालु देव श्रीमद् राजचंद्रजी का यह वचनामृत, विस्मरण करने योग्य नहीं है। जहाँ ज्ञान यथार्थ होता है वहाँ भक्ति- भाव अविनाभावीरूप से समुत्पन्न होता है। तथा जहाँ शुद्ध अंतःकरण से भक्ति- भाव स्फुरायमान होता है वहाँ ज्ञान की सहज निर्मलता होती है, मोह का बल क्षीण होता है। जीव को मार्ग की प्राप्ति में जो सबसे भारी प्रतिबंधक कारण है वह 'मोह' है; उसका निरसन, उक्त प्रकार की भक्ति के परिणामों द्वारा सुगमता से होता है।-इस रहस्यभूत कारण की सिद्धि, रहस्यभक्ति है। जिसे ऐसा भक्ति-रहस्य यथार्थरूप से समझ में आए तो उसे भक्तिमार्ग के प्रति जुगुप्सा नहीं होती, प्रत्युत वह इस रहस्यभक्ति की सिद्धि / उपासनार्थ विशेष उद्यमवंत होता है। ऐसे आत्मार्थी जीव के जीवन का एकमात्र लक्ष्य पहले से ही पूर्ण शुद्ध का होने से वह राग-प्रधानता से, ओघसंज्ञा में रहकर राग





में नहीं रुकता। तथा उसे अपने भावों का अवलोकन, आत्मजागृतिपूर्वक, निरंतर वर्तता है।

उक्त भक्ति का यह रहस्य है कि : वैसी यथार्थ भक्ति द्वारा दर्शनमोह व स्वच्छंद की हानि, और मल-विक्षेपादि दोषों की निवृत्ति सहजरूप से और सुगमता से होती है।

अनेक महान् आचार्यों ने श्री तीर्थकरदेव के स्तोत्र व स्तवन द्वारा गहन तत्त्व / सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। अनेक धर्मात्माओं ने भी द्रव्यानुयोग के परम गंभीर और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवचन रहस्य को निर्ग्रंथ गुरु या परम गुरु के नाम से स्तवनादि में समाया है, गाया है।-ऐसी रचनाओं को, मात्र उनका राग मानना उचित नहीं है। अपितु वह तो उनका स्तुतिपात्र विवेक है।

आत्मार्थीजीव के श्रद्धा व ज्ञान निर्मल होने का पूरकतत्त्व, रहस्यमयी ढंग से, भक्ति होती है उक्त प्रकार की समीचीन / यथार्थ समझ, वास्तव में रहस्यभक्ति है।

❁ **योगभक्ति :-** श्रीमद् पद्मप्रभमलधारीदेव ने, इस शब्द का प्रयोग श्री 'नियमसार' परमागम की टीका में किया है। उन्होंने भक्ति-अधिकार में, 'उपयोग का परमस्वरूप में युक्त होना' उसे योगभक्ति की संज्ञा दी है। गाथा : १३७ - १३८ में कहा है कि : अखंड परमानंदस्वरूप में युक्त (जोड़ने) रूप योगभक्ति, वह मुनिश्वरोंनी निर्वाण की हेतुभूत है। और इसी मार्ग से सर्व मुनीश्वर निर्वाण को प्राप्त हुआ हैं। तथा गाथा-१३९ में अन्य विवक्षा से ऐसा निरूपण किया है कि : जिनोक्त तत्त्वों में आत्मा को लगाना, योगभक्ति है। इसी प्रकार ऐसे



परिणामों को अन्यत्र 'समाधिभक्ति' की भी संज्ञा दी गई है।

❖ **निर्वाणभक्ति** :- सम्यक् रत्नत्रय-परिणामों का जो भजन है वह 'निश्चयभक्ति' है। (-श्री 'नियमसार'गाथा-१३४) यह निश्चयभक्ति निर्वाण की कारणभूत होने से उसे 'निर्वाणभक्ति' कही है। इस भक्ति द्वारा स्वरूप की प्राप्ति होती है।

सिद्ध पद के अभिलाषी जीवों के द्वारा, अपने आदर्शस्वरूप, निर्वाण को संप्राप्त ऐसे सिद्ध परमात्मा की भक्ति, सिद्धभक्ति है। ऐसी भक्ति, व्यवहारभक्ति है; उसमें अपने सिद्धपद के स्मरण का अभिप्राय गर्भित है।

❖ **श्रुतभक्ति** :- श्री सर्वज्ञ वीतराग जिनेश्वरदेव, श्री गणधरादि निर्ग्रंथ गुरुभगवंत और मूर्तिमान आत्मज्ञानस्वरूप सत्पुरुषों की वाणी द्रव्यश्रुत है। उसकी उत्पत्ति आत्मकल्याणरूप स्वरूपानुसंधान सहित हुई होने से वह, जिसकी काललब्धि पक गई है ऐसे जीवों के आत्मकल्याण में यानी कि भावश्रुत प्रकट होने में निमित्त बनती है। और उसमें इस प्रकार का निमित्तत्व सदैव विद्यमान होने से उसकी पूज्यता सुविदित, सुप्रसिद्ध और सर्वमान्य है। इस तरह द्रव्यश्रुतरूप जिनवाणी के प्रति पूज्यबुद्धिपूर्वक बहुमान के परिणाम, श्रुतभक्ति है। श्री 'समयसार कलश टीका' (कलश-२) में श्री जिनवाणी को 'सर्वज्ञस्वरूपअनुसारिणी' कहकर उसकी पूज्यता दर्शायी है।

'साभार धर्मामृत' अध्यात्म-२ गाथा ४४ में यों कहा है कि 'जो भक्तिपूर्वक श्रुत (जिनवाणी) की पूजा करते हैं, वे मनुष्य वास्तविक में जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं, क्योंकि गणधरदेव ने जिनवाणी और जिनेन्द्र देव में लेशमात्र भी अन्तर



नहीं कहा है।

मोक्षमार्गी धर्मात्मा छद्मस्थ अवस्था में होनेपर भी उनकी वाणी, निज अन्तर् सर्वज्ञस्वभाव को स्पर्श कर, सहजभाव से व्यक्त होती होने से वह वाणी, सर्वज्ञस्वरूपअनुसारिणी होती है। तीनों काल के सर्व ज्ञानियों की वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ उपदेशक, अपूर्व अर्थ का निरूपण करनेवाली होती है और अनुभवसहित होने से उसमें एक परमार्थ का ही आशय सन्निहित होने से वह वाणी, आत्मार्थी के लिए परम उपकारभूत निमित्त है। अतएव वह पूजनीय है, अभिवन्दनीय है।

श्रुतभक्त और प्रभावनाअंगधारक सर्व सम्यग्दृष्टि महात्माओं को ऐसी भावना, श्रुतभक्ति के कारण, वर्तती ही है कि : जिवों के कल्याण हेतु ऐसी परम उपकारभूत वाणी, अर्थात् सत्श्रुत का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो कि जिसके निमित्त से सर्व जीवराशि संसारक्लेश से परिमुक्त हो। इसी भाँति ऐसी भावना, ज्ञानी के मार्ग को दृढ़ता से अनुसरण करनेवाले मुमुक्षु को भी होती है।

श्रुतभक्ति से मुमुक्षुजीव के दर्शनमोह का अनुभाग घटता है और उससे ज्ञानादि भावों में निर्मलता / विशुद्धता प्राप्त होती है।

यद्यपि बाह्य में उपास्य को कर्ता आदि बनाकर भक्ति की जाती है। परंतु अंतरंग भावों के सापेक्ष होनेपर ही यह (भक्ति) सार्थक है अन्यथा नहीं। आत्मस्पर्शी भक्ति ही सच्ची भक्ति है। भक्ति, मोक्षमार्ग का प्रधान अंग है। इसकी महत्तावश समर्थ आचार्यों ने भी भक्तिपाठ रचे हैं। उदाहरणार्थ : प्राकृत में भक्तिपाठ आचार्य कुंदकुंददेव और पद्मनंदिदेव कृत उपलक्ष



हैं। तथा संस्कृत में भक्तिपाठ आचार्य पूज्यपाद स्वामी और श्रुतसागरजी द्वारा रचित उपलब्ध है। जिनागम में साधुओं की नित्य नैमित्तिक क्रियाओं के प्रयोग में आनेवाली तेरह प्रकार की भक्तियों का वर्णन भी मिलता है। इसी भाँति साधु की आहारदान के समय नवद्या भक्ति, तथा साधु के नित्य के कृतिकर्म में चतुर्विंशतिस्तव का भी वर्णन मिलता है।

अंत में, अनेक दोषों की निवृत्ति और आत्मार्थी के योग्य अनेक गुणों की उत्पत्ति का कारण समझकर भक्ति का महत्त्व अवधारणीय है।

उल्लेखनीय है कि, परम कृपालु देव श्रीमद् राजचंद्रजी ने अति सुंदर और अभिनव भाव-प्रयोग द्वारा फरमाया है कि : ज्ञानी गुरु की भक्ति शुद्धाचरण से प्राप्त होती है। अथवा ज्ञानी की आज्ञा, उसकी उपासनारूप सद्वर्तन, ज्ञानीपुरुष की भक्ति है। जिस जीव को ज्ञानी के मार्गपर चलने का दृढ़ निश्चय हो, वह अवश्य संसार चक्र से छूट जाता है। ऐसे भक्तिवान जीव को, पात्रता के अंगभूत वैराग्य, सरलता, नम्रता, क्षमा आदि गुण सहज मात्र में उद्भव होते हैं। जिससे क्रोधादि चारों ही प्रकृतियाँ स्वयमेव उपशांत होती हैं। जीव को अनेक प्रकार के प्रतिबंधों के निरसन हेतु भक्ति एक सुगम साधन है। यद्यपि आत्मज्ञान के बिना सर्व दोषों और दुःखों का क्षय नहीं होता; अतः उनकी दुर्धटता को देखकर, निष्कारण करुणाशील ऐसे सत्पुरुषों ने आत्मज्ञान का कारणभूत ऐसा जो भक्तिमार्ग, उसको प्रकाशित किया है; जो सर्व को सुगमता से शरणरूप है।

जिसके कारण जीव को परमें अपनत्व हो रहा है ऐसा



जो अहंभाव, कि जिसकी निवृत्ति होना अति दुष्कर होता है; उसकी निवृत्ति होकर, अन्यत्र कहीं रुकना न हो, सर्व विकल्प मिटे और सर्व सिद्धि संप्राप्त हो, उसके लिए सरल / सुगम साधन-आत्मकल्याण की संपूर्ण गरज से उत्पन्न-भक्ति है। यहाँ ध्यातव्य है कि भक्ति साधन है, साध्य नहीं, साध्य तो पूर्ण पवित्र निवारण पद है।

मोक्षमार्ग की प्राप्ति के सिवा जन्म-मरण का अंत नहीं आ सकता है। और मोक्षमार्ग की प्राप्ति योग्यता बिना संभव नहीं है। तथा योग्यता की प्राप्ति सरलता, वैराग्य, भक्ति सहित सत्संग की उपासना से होती है। अतएव मोक्षमार्ग व उसकी समीपता हेतु योग्यता गढ़ना परम आवश्यक है।

जो अध्यात्मविद्या सद्गुरु के परम विनय से प्राप्त होती है, वह विनय, भक्ति की ही आचरणरूप पर्याय है। और वैसे आचरण को नवधा भक्ति कही है।

उल्लिखित व्यवहार और निश्चय-दोनों प्रकार की भक्ति अत्यंत प्रयोजनीय है। अतः आत्मश्रेय के अभिलाषी जीव को, भक्ति के स्वरूप को यथार्थरूप से समझ कर उसको भलीभांति अंगीकार करना चाहिए। मात्र पद्य / भजन गाने-गववाने की रूढि, 'भक्ति' का पर्याप्त स्वरूप नहीं है; अतएव वैसे प्रकार में ही अटकना योग्य नहीं है।

ॐ शांति





## आत्म-संतुलन

वर्तमान काल में सर्वज्ञ वीतराग तीर्थकरदेव प्रणीत तत्त्वज्ञान की परंपरा, संपूज्य आचार्य भगवंतो द्वारा अपने वंदनीय ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा संरक्षित रहने से आज भी विद्यमान है; जिसके फलस्वरूप वर्तमान दुषम काल हुण्डावसर्पिणी होनेपर भी 'मोक्षमार्ग' अखण्डरूप से जीवंत है; जो परम सैभाग्य की बात है। परम अध्यात्मतत्त्व की विद्यमानता रही होने से, आत्म-कल्याण के अभिलाषी जीव, उसका अभ्यास करते हैं और तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा आत्महित साधने का प्रयास भी करते हैं। तत्त्वाभ्यास में अनेक प्रयोजनभूततत्त्व की विचारणा होती है तब ज्ञान में मुख्यता-गौणता होती है। इस मुख्य-गौणता में यदि संतुलन-संधान न हो तो अयथार्थता या विपर्यास की उत्पत्ति हो जाती है।

प्रयोजनभूत तत्त्व स्वयं सूक्ष्म होने के कारण तदनुरूप उपयोग की सूक्ष्मता न हो तो विपर्यास होने की विशेष संभावना है। वैसा न होने हेतु, यहाँ तत्संबंधी तथ्यों की चर्चा अपेक्षित है।

यद्यपि आत्मस्वभाव तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है ही; उसी भाँति स्वरूप-प्राप्ति की विधि भी अत्यंत सूक्ष्म है। ये दोनों विषय परम प्रयोजनीय होने से-इनमें यथोचित आत्म-संतुलन रहकर



वजन जाये अथवा वे मुख्य-गौण हों-एतदर्थ पूरी सावधानी के प्रवर्तना आवश्यक है।

सत्शास्त्रों की रचना भिन्न-भिन्न शैली एवं विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई होने से उपर्युक्त प्रयोजनभूत तत्त्वों के कथनों में परस्पर अविरोधता होते हुए भी उनमें विरोधाभास दिखलाई देता है। उसमें भी जहाँ जहाँ जो जो उपदेश व सिद्धांत का स्तर हो वह न समझ में आये तब भी विरोधाभास लगता है; जिससे तत्त्वाभ्यासी जीवों को समाधान न होने से उलझन / अकुलाहट की संभावना रहती है।

सत्शास्त्रों की रचना प्रायः समष्टिगत उपदेशपद्धति से होती है। और शास्त्रकर्ता, शासन में आनवाले वर्तमान तथा भावी जीवों की विविध प्रकार की योग्यता को अनुलक्ष्य कर, शास्त्र की रचना करते हैं। उसमें से, शास्त्राध्ययन करनेवाले आत्मार्थी जीव को स्वयं को व्यक्तिगतरूप से लागू पड़े वैसे विषय को मुख्य करना और शेष विषय को गौण करना उचित है। इस प्रकार से यदि प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत विषय का बँटवारा न करने में आए तो प्रयोजनभूत तत्त्व के ऊपर लक्ष्य नहीं जाता और फलस्वरूप आत्महित साधने में निष्फलता मिलती है। इतना ही नहीं, बल्कि वैसे प्रकार के शास्त्राभ्यास से नुकसान (यानि कि आत्म-अहित) भी हो जाता है।

इसी भाँति, आत्मार्थी जीव समष्टिगत उपदेश श्रवण के प्रसंग में भी स्वयं की वर्तती भूमिका के विकासार्थ प्रयोजनीय उपदेश को यानी कि व्यक्तिगत उपदेश को उपर्युक्त प्रकार से निथारता (जुदा करता) है। अन्यथा तो प्रयोजनभूत और



अप्रयोजनभूत दोनों विषयों की ज्ञान में धारणा होनेपर भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

तथा, उपयोग की सूक्ष्मता का यह सिद्धांत है कि : प्रयोजनभूत विषय में उपयोग सहज सूक्ष्म होकर प्रवृत्ति करता है। तदनुसार जब तक जीव को संयोग की राग / पुण्य की रुचि होती है तब तक उन उन विषयों में उसका उपयोग सूक्ष्मता से काम करता ही है; ऐसा अनुभव सर्व साधारण है। उक्त सिद्धांत के अनुसार यदि जीव को आत्मकल्याण का प्रयोजन भासित हो तो अध्यात्मतत्त्व की रुचि प्रगट होकर, उसका उपयोग अध्यात्मविषय की सूक्ष्मता में सफलरूप से प्रवर्त सकता है। आत्म हित-अहित के विषय में यह आधारभूत बात है। अतएव रुचि के प्रमाण में निज प्रयोजनभूत विषय में ज्ञान में सहज ही सूक्ष्मता उत्पन्न हो जाती है।-यह आत्मार्थी जीव के लिए प्रेरणास्पद तथ्य है।

तथा, आत्मकल्याण का अभिलाषी जीव सर्व प्रथम मोह का अभाव करना चाहता है; परंतु दर्शनमोह और चारित्रमोह किस अवस्था में किस प्रकार से मुख्य-गौण करने योग्य है, उसकी अनभिज्ञता के कारण, वह विपरीत कार्यपद्धति द्वारा मोह के अभाव करने की प्रवृत्ति करता है; अथवा छोटे दोष (चारित्र मोह) को दूर करने हेतु विशेष भार देता है और बड़े दोष (दर्शन मोह) को दूर करना चूक जाता है। चारित्र मोह के परिणाम स्थूल होने से वे स्थूल उपयोगवाले को भी जानने में आ जाते हैं, जब कि दर्शनमोहके परिणाम सूक्ष्म होनेसे वे जानने में नहीं आते। इस कारण से भी धार्मिक संप्रदायों





में सर्व प्रथम दर्शनमोह (सबसे बड़े दोष) के अभाव करने के बदले अनेक प्रकार के चारित्रमोहजन्य छोटे छोटे दोषों के अभाव करने की कार्यपद्धति प्रत्यक्ष देखने में आती है; जो कार्यपद्धति का विपर्यास है।

वर्तमान धार्मिक संप्रदायों में दर्शनमोह का स्वरूप और उसके अभाव करने हेतु का कार्यक्रम-इन दोनों विषयों में घोर अंधकारमयी स्थिति देखने में आती है।-ऐसी स्थिति में, दर्शनमोह के विभिन्न स्तों की चर्चा-विचारणा हो भी कहाँ से ? परिणामस्वरूप प्रत्येक धार्मिक प्रवृत्तियों में कषाय की मंदता (चारित्रमोह मंद) हो, ऐसा प्रचलन है; और उक्त स्थिति में जाने-अनजाने में जीव को 'धर्म किये' का संतोष होता है; जो दर्शनमोह वृद्धिकारक है। ज्ञान के क्षयोपशम में या चारित्रमोह के क्षयोपशम में संतुष्ट होना, उसकी महत्ता लगाना, उसपर वजन जाना अथवा 'कुछ किये' की गिनती करना-ऐसे परिणाम, दर्शनमोह वृद्धिकारक परिणाम है; उसकी खबर भी न हो तो उसे अभाव करने का सूझे भी कहाँ से ?

वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा के मार्ग में तो सर्व प्रथम दर्शनमोह के नाश करने की आम्नाय है; उसका उल्लंघन करके यदि कोई जीव प्रथम चारित्रमोह को मंद करता है तो वह स्थिति अल्पकालीन होती है; क्यों कि आगे चलकर वह अनिवार्यतः तीव्र हुये बिना रहेगा नहीं। वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि दर्शनमोह के अभावपूर्वक, गुणस्थान अनुसार क्रमशः चारित्रमोह का अभाव होता है। दर्शनमोह के अभाव के पूर्व चारित्रमोह की निवृत्ति हेतु चाहे जितना त्याग करने में आये तो भी वह मोक्ष के



अर्थ कार्यकारी नहीं होता। क्योंकि वह मोह-नाश का कल्पित उपाय है। सारांश यह है कि मोह के उक्त दोनों प्रकारों को तथा उनके अभाव के क्रम को भलीभाँति समझ कर, उनकी यथार्थ प्रकार से मुख्यता-गौणता होनी चाहिए।

यद्यपि दर्शनमोह की तुलना में चारित्रमोहसंबंधी दोष छोटा (न्यून) है तदपि उस दोष की कहीं भी अनुमोदना न हो, यह लक्ष्य में रहना चाहिए; अन्यथा अयथार्थ प्रकार से चारित्रमोह के दोष के अल्प गिनने पर अनजाने में दर्शनमोह तीव्र हो जाता है। कारण कि दोष की अनुमोदना में 'अभिप्राय की भूल' गर्भित होने से वहाँ स्वयमेव दर्शनमोह आविर्भूत हो जाता है। और उक्त प्रकार में आत्म-संतुलन-संधान नहीं होता और भारी नुकसान हो जाता है।

तथा, तत्त्वज्ञान के अभ्यास करनेवाले जीव को अभ्यास के दरमियान उलझन होने के अनेक स्थान हैं; कारण कि शास्त्र में जिस विषय की मुख्यता, किसी एक स्थलपर, प्रतिपादित हो उसीको गौणता का प्रतिपादन अन्यत्र दिखलाई पड़ता है। जैसे कि-लक्ष्य होने हेतु स्वभाव को मुख्य करके पर्याय की गौणता का प्रतिपादन है; तथापि अनुभव कराने के अर्थ, विधि विषयक प्रतिपादन में, वेदन की यानी पर्याय की मुख्यता प्रतिपादित हुई है। इसीभाँति मुमुक्षुजीव को किस प्रकार की योग्यता में स्वयं के लिए, उपदेश के अनेकविध वचनोंमें से, किस बात को मुख्य करनी योग्य है, तदर्थ कोई स्पष्ट सिद्धांत या नियम दिखाने में नहीं आता; जिससे अनेक जगहों पर भूल होने की संभावना रहती है और मार्ग की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

है।-ऐसी परिस्थिति में आत्मकल्याण के अभिलाषी जीव को जिज्ञासा उत्पन्न होनी योग्य है कि : 'प्रथम क्या करने से कहीं भी भूल न हो-वैसी मूलभूत प्रवृत्ति क्या हो सकती है? अवश्य ही यह एक जटिल समस्या है, जिसका समाधान सर्व सामान्य को न मिलने से प्रायः जीव उन्मार्ग पर चढ़ जाता है और सन्मार्ग प्राप्ति से वंचित रह जाता है। परंतु यदि जीव चाहे जैसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में भी एकमात्र निज आत्मकल्याण का ही लक्ष्य (ध्येय) रखे तो अवश्य ही उस जीव को प्रथम विचार यह आता है कि 'मुझे आत्मानुभवसिद्ध ज्ञानी पुरुष के चरणसान्निध्य में रहकर, सर्वथा उनकी आज्ञानुसार चलना है कि जिससे सन्मार्गपर चढ़ने के सर्व स्थानों से बचा जा सके। ' यदि ऐसा यथार्थ भाव न आये तो सन्मार्ग की अनभिज्ञता के कारण मार्ग प्राप्ति की दुष्करता का भी पार नहीं है। अतएव सर्व शास्त्रों में स्वानुभवी श्री गुरु के 'प्रत्यक्ष योग' का अति अति महत्त्व दर्शाया गया है; जो सभी साधकों के अनुभव का निष्कर्ष है। यह वस्तुस्थिति है। यह कोई निमित्ताधीन दृष्टि की बात नहीं है। तथा, जीव के यथार्थ / यथोचित पात्रता प्रगट हुये पहले, तथा उसकी दृष्टि बाह्य प्रवर्तती होने से, उसे 'ज्ञानीपुरुष' की पहचान समीचीन नहीं होती। यदि कदाचित् ओघसंज्ञा से उसको 'ज्ञानीपुरुष का निर्धार' हुआ हो तो भी, उसे जब ज्ञानी की बाह्यदशा में पूर्वनिबंधितकर्मोदयवश किंचित् चारित्रमोहजन्य दोष दिखलाई पड़े तब, उसकी मुख्यता हो जानेपर, 'वह निर्धार' टिक (स्थित) नहीं पाता। यहाँ पर भी अल्प (चारित्रमोह के) दोष पर वजन चले जानेपर, सर्वोपरि



दोष के अभावस्वरूप ऐसी महान् 'सम्यक्त्वदशा' की यथार्थ पहचान न हुई होने से वह गौण हो जाती है और धर्मात्मा की पवित्र अंतर्दशा की विराधना / असातना / अवर्णवाद होने जैसा महा दोष उत्पन्न हो जाता है। आत्म-संतुलन चूक जाने पर, उक्त प्रकार से जीव, अनंत संसार वृद्धि कर बैठता है। परंतु जिसे ज्ञानीपुरुष की अंतरंगदशा, मूलदशा, सम्यक्त्वरूप दशा की वास्तविक पहचान हुई हो तो उसे उस ज्ञानीपुरुष का 'सर्व आचरण' वंदनीय भासित होता है; इतना ही नहीं अपितु उसको तो चारित्रमोहजनित तूफान के प्रसंगो में वर्तती उनकी भिन्नता और अडिगता के दर्शन होते हैं, जिससे उनके प्रति विशेष भक्ति स्फुरायमान होती है। जिसके फलस्वरूप वह मुमुक्षुजीव 'ज्ञानकला' को संप्राप्त कर, स्वभावसमीप होता है।

अब यहाँ आत्म-संतुलनार्थ 'उत्सर्ग' और 'अपवाद' संबंधी सिद्धांत विचारणीय है : यह तो निर्विवाद तथ्य है कि, सर्व साधकजीवों को सम्यक् एकांतरूप से वीतरागता (-उत्सर्ग मार्ग) ही उपादेय है, राग (-अपवादमार्ग) तो किंचित्मात्र भी उपादेय नहीं है।-ऐसा सम्यक् अभिप्राय सभी साधकों का होते हुए भी वे मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने हेतु अपनी अपनी वर्तमान भूमिकानुसार प्रवर्तमान अपने पुरुषार्थ को माप कर, तथा बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देख-समझकर, उन दोनों के बीच विवेक कर, जिस भाँति आत्म-संतुलन-संधान बना रह सके उस भाँति बाह्य शासन की एवं द्रव्यसंयमादि की प्रवृत्ति करते हैं; और वेसी प्रवृत्ति में 'अपवाद' रूप से रागादि भावों का परिणमन होता है। वैसे प्रकार की उक्त प्रवृत्ति में (शुद्धि की वृद्धि के



मंदपुरुषार्थवश) राग की मुख्यता होती दिखाई देती है। परंतु वैसी परिणाम उन्हें हठ बिना, हेयबुद्धिपूर्वक, सहज होते हैं; तथापि उनके 'अभिप्राय' में 'उत्सर्ग' की मुख्यता कभी भी नहीं छूटती।-इस प्रकार से धर्मात्माओं की प्रवृत्ति अपवादमार्ग के विषय में होती है, जिसमें अति सूक्ष्मता गर्भित है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि : यदि हठपूर्वक परिणाम की प्रवृत्ति करने में आए तो वहाँ निःसंदेहरूप से 'द्रव्यदृष्टि' विलय होकर, पर्यायबुद्धि का आविर्भाव हो जाता है। और वह मार्गच्युत होकर, अंत में अति संक्लेशभाव को प्राप्त होता है। इसीलिये अपवादमार्गपर पर्वत रहे ज्ञानी, वास्तव में तो वीतरागता की बुद्धि के आशय की पूर्ति हेतु ही प्रवर्तन करते हैं। इसी कारण जिनागम में, मोक्षमार्ग के सिद्धांत में उत्सर्ग और अपवाद की संधि (-संतुलन) का स्वीकार करने में आया है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है कि : 'चारित्रगुण क्रमशः शुद्ध होता है; अतएव साधक अवस्था में स्वस्थान का राग जाना हुआ प्रयोजनवान है, जो न्यायोचित है।

तथा, आत्मकल्याण का मार्ग तो आत्म-संतुलन का मार्ग है। ज्ञानीपुरुष आत्म-संतुलन पूर्वक निश्चय-व्यवहार दोनों विषयों में प्रवर्तन करते हैं और उसी से वे अंत में पूर्ण सिद्धि को प्राप्त करते हैं। अतएव ज्ञानी के मार्गपर चलनेवाले मुमुक्षु को भी निश्चय और व्यवहार दोनों विषयों में संतुलन रखना चाहिए। यद्यपि निश्चय और व्यवहार विषयक भंग-भेद अनेक हैं। प्रयोजनवश उनका प्रतिपादन सत्शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से करने में आया है। यदि उनकी संधि (Co-Ordination) न कर सके, करने



में न आये, तो वहाँ विपर्यास की उत्पत्ति अनिवार्य है। किसी प्रकार का विपर्यास कहीं न हो तदर्थ ज्ञानीपुरुष ने मुमुक्षुजीवों पर अत्यंत निष्कारण करुणा करके ऐसा सरल व सुगम मार्ग प्रकाशित किया है कि : 'मुमुक्षुजीव सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक ज्ञानीपुरुष के चरणसान्निध्यरूप प्रत्यक्ष सत्संग की उपासना करनी। यही सर्वशास्त्र लक्ष्य है। और यही शास्त्र-आज्ञा है। और जो शास्त्र-आज्ञा है वही जिन-आज्ञा होती है।'

यहाँ ध्यान देने जैसी बात यह है कि : निश्चय-व्यवहार के जो भंग-भेद हैं वे सीख ने के या धारण के या याददास्त के विषय नहीं हैं; अपितु वे विषय तो भूमिकानुसार सम्यक् प्रकार से परिणामन करने के हैं। औरे उन भूमिकाओं में वे सहज ही होते हैं।

सामान्यतः व्यवहार को गौण करके निश्चयस्वरूप की मुख्यतापूर्वक स्वरूप की उपासना करने का जिन-सिद्धांत है। तथापि निश्चय के विषय में 'यथार्थ लक्ष्यपूर्वक' यदि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्ति न हो तो वहाँ निश्चयाभास उत्पन्न होता है। उसी तरह स्वस्थान के प्रशस्त परिणाम होने हेतु और उन भूमिकाओं से नीचे की कोटि के परिणाम के अभाव हेतु, सत्शास्त्रों में व्यवहार विषयक प्रतिपादन अनेक भेद-प्रभेद द्वारा करने में आया है। उनकी यथार्थता / यथोचितता न समझने से, संतुलन गवाँकर यदि व्यवहार के ऊपर वजन बढ़ जाए, तो कारण-कार्य की सम्यक्ता / परंपरा टूटकर वहाँ व्यवहारभास की उत्पत्ति हो जाती है। इन दोनों प्रकार के विपर्यासों का मूल 'ध्येयशून्यता' या 'ध्येयविपरीतता' है। परन्तु जो जीव 'पूर्णता के लक्ष्य से



शुरूआत करता है उसका तो ज्ञानीपुरुष के मार्गपर चलने का दृढ़ निश्चय होने से वह अपना ध्येय कहीं भी नहीं चूकता है; जिससे वह अवश्य तर जाता है।

तथा, कितने ही तत्त्वाभास करनेवाले जीव व्यवहार, निश्चय और प्रमाण विषयक पहलुओं से वस्तुस्वरूप समझने का प्रयास भी करते होते हैं। परंतु कहाँ किसे गौण और कहाँ किसे मुख्य करना, उस बाबत की 'सूझ' न होने से, और वैसी 'सूझ' प्रत्यक्ष ज्ञानी बगैर न पड़ती होने से, उसमे भूल होती है, विपर्यास होता है, जिससे वहाँ प्रमाणाभास की उत्पत्ति हो जाती है। यह सबसे बड़ा विपर्यास है। कारण कि : प्रमाणाभासी जीव को प्रमाण के विषय का प्रत्यक्ष अनुभव तो नहीं वर्तता परंतु उसे उस विषय की जानकारिरूपज्ञान (-मात्र धारणा) होने से, स्वयं की उक्त भूल, स्वयं को दिखाई नहीं देती; और स्वयं 'ज्ञान और क्रिया' दोनों की आराधना करता है, ऐसा मानता है; अतएव वैसी भूल मिटनी अति दुष्कर है। वास्तव में तो सम्यग्ज्ञान प्रमाण ही सच्ची आत्म - संतुलन की दशा है। उसके अभाव में, प्रमाण के विषय का ज्ञान (धारणा) आगमअनुकूल होते हुए भी, वहाँ प्रमाणाभास होता है। यथार्थता में तो आत्मा का निश्चयस्वरूप लक्ष्यगत हो तो ही पुरुषार्थ की गति (दिशा) सहज अंतर्मुख होकर, वहाँ स्वभाव-परिणामों की रचना स्वतः होती रहती है। और जब तक परिपूर्ण शुद्धदशा प्रगट न हो तब तक भूमिकानुसार सहज (कृत्रिमता बगैर) व्यवहार परिणामों की प्रवृत्ति हो जाती है; और वैसे में स्वयमेव आत्म-संतुलन संरक्षित रहता है।



तथा, आत्मकल्याण के मार्ग के प्रति गति एवं विकास हेतु ज्ञान और पुरुषार्थ की प्रवृत्ति प्रधान होती है। ज्ञान और पुरुषार्थ के बीच कारण-कार्य संबंध है। 'आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही आत्मिकपुरुषार्थ का उत्पादक है।' आत्मा के परिणाम के संबंध में यह एक वैज्ञानिक परिस्थिति है कि: 'जो ज्ञान आत्मवीर्य को उत्पन्न न करे वह ज्ञान समीचीन नहीं है।'

अनादि से जीव की 'ज्ञान-प्रवृत्ति' राग अवलंबित है। और वस्तुस्थिति ऐसी है कि : ज्ञान जिसका अवलंबन लेकर प्रवर्तता है वहाँ अवलंबन के विषयभूत पदार्थों का आश्रय वह नहीं छोड़ सकता। इसीलिये राग को अवलंबन करके प्रवर्तन कर रहा ज्ञान, राग के विषयभूत पर पदार्थों का आश्रय नहीं छोड़ पाता। तिसपर भी जीव प्रथम अपने अभिप्राय में राग के अवलंबन को छोड़े बगैर ही ओघसंज्ञा से, लोकसंज्ञा से या हठयोग से परपदार्थों का त्याग करता है; तथापि वहाँ आत्मकल्याण सिद्ध नहीं होता, हो भी नहीं सकता; क्योंकि वह प्रकार सम्यक् मार्ग नहीं है।-ऐसे प्रकार में, पुरुषार्थ का प्रयोग समीचीन नहीं है, कृत्रिम है, और वह मात्र बाह्यक्रिया के एकांत में परिणमन करता रहता है। सही ज्ञान के अभाव में, जाने-अनजाने में असत् का आग्रह, सिद्धिमोह और अतिपरिणामित्व जैसी अनेक विपरीत वृत्तियाँ आविर्भूत हो जाती हैं। अतः सर्व प्रथम ज्ञान के अनादि अवलंबन को पलटने का पुरुषार्थ करना योग्य है।

कोई ज्ञान-प्रवृत्ति (शास्त्राभ्यास) करनेवाला मुमुक्षु भी 'स्वभाव के प्रति जोर देना' उसे ही पुरुषार्थ का स्वरूप समझता है। परंतु वह प्रकार वास्तव में पुरुषार्थ का नहीं है। बल्कि वहाँ





कल्पना किये हुये आत्मस्वरूप के प्रति कृत्रिम जोर देने में, मात्र विकल्प ही चलता है। और वह कल्पित तत्त्व का चिंतवन-मनन, राग की मुख्यता में रह करके चलता होने से वह विकल्प वृद्धि में परिणमित होता है। इसलिये निर्विकल्प अनुभव की प्राप्ति नहीं होती है, संभवित भी नहीं है। किंतु पुरुषार्थ और ज्ञान का संतुलन ऐसे प्रकार का होता है कि : यदि स्वरूपप्राप्ति की परम अवगाढ भावना हो और स्पष्ट अनुभवांश द्वारा स्वभाव का भावभासन हो तो ही स्वभावसन्मुख हुए ज्ञान में स्वभाव का अनंत सामर्थ्य प्रतिभासित होता है जो चैतन्यवीर्य को सहज उछालता है। इसप्रकार से ही ज्ञान और पुरुषार्थ का संतुलन संरक्षित रहता है।

सम्यक् ज्ञान में द्रव्य, गुण, पर्याय आदि अनेक भेद जानने में आने पर भी (वहाँ) जोर तो अभेदस्वभाव का ही वर्तता है। भेद जानने में आते हुए भी भेद के ऊपर वज्रन नहीं जाता, यह एक सहज ज्ञान की कला है और वही संतुलित अवस्था है।

जिस जीव को बाह्य क्षयोपशमज्ञान की रुचि होती है वह भेद की प्रधानता को छोड़ नहीं सकता है। यद्यपि उसे क्षयोपशम में अभेदस्वरूप समझने में तो आता है तथापि उसपर वज्रन नहीं जाता और अनादि भेदबुद्धि को लेकर भेद की प्रधानता बनी रह जाती है। अतएव भेद-अभेदात्मक वस्तुस्वरूप को (भलीभाँति) समझ करके संतुलित अवस्था में आत्मकल्याण साधना चाहिए। ज्ञानीपुरुष आत्मा के गुण (भेद) वैभव द्वारा आत्मस्वरूप की महिमा करते हैं तब भी परिणामस्वरूप वे अभेदस्वरूप में



अभेदभाव का ही आविर्भाव करते हैं। मुमुक्षुजीव को भी अभेदस्वरूप की यथार्थरूप से प्रधानता होनेपर ही अभेददृष्टि उद्भव होती है।

तथा जीव के परिणमन में मुख्य प्रवृत्ति श्रद्धा-ज्ञान की होती है और उसीको अनुसरण करके आचरण और पुरुषार्थ की प्रवृत्ति होती है। यह परिणाम का विज्ञान है। आत्म कल्याण के प्रकरण में सम्यक् श्रद्धा का विषय, सामान्य ध्रुवस्वभाव-परमात्मतत्त्व ही है। सम्यक्श्रद्धा, गुणभेद या पर्यायभेद को (यहाँ तक कि पूर्ण शुद्धपर्याय को भी) विषय नहीं करती, अर्थात् श्रद्धान नहीं करती है। जब की ज्ञान, श्रद्धा के विषयभूत परमतत्त्व को विषय करने के उपरांत सर्व पर्यायों और पर्याय के निमित्तभूत अन्य द्रव्यों को भी विषय करता है। इस भाँति श्रद्धा और ज्ञान की दोनों पर्यायों के विषयों में अंतर होने पर भी, ज्ञान में मुख्यता तो श्रद्धा के विषय की ही वर्तती है ऐसा श्रद्धा-ज्ञान के बीच परिणमन का नियम है। इसलिये सम्यग्ज्ञान में चाहे तो जो विषय ज्ञेय हो तो भी ज्ञान का 'उक्त' संतुलन सतत संरक्षित रहता है। प्रथम स्वानुभव के काल में अपूर्व आनंद की उत्पत्ति होने पर भी, और अध्यात्मपर्यायों की महिमा यथास्थान पर भासित होने पर भी, उनकी मुख्यता नहीं होती; मुख्यता तो एकमात्र श्रद्धा को अनुसरण करके परमस्वभाव की ही रहती है।

यद्यपि मुमुक्षुजीव को सत्श्रुत द्वारा श्रद्धा और ज्ञान का विषय समझने को मिलता है, परंतु यदि श्रद्धा-ज्ञान के परिणमन में संतुलन-संधान न रहे यानी कि दोनों में से किसी एक

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

के ऊपर अयथार्थ प्रकार से वजन जाये तो कार्यसिद्धि नहीं होती है। श्रद्धा के विषय में और ज्ञान के विषय में किस स्तरपर कितना वजन जाना चाहिए उसकी अनभिज्ञता के कारण, परमार्थ की हानि होती है अथवा मिथ्याएकांत उत्पन्न होता है। वैसा न होने हेतु, मुमुक्षुजीव की कार्यपद्धति किस तरह की होनी चाहिए, वह गवेषणीय है-

मुमुक्षु की भूमिका में श्रद्धा सम्यक् नहीं हुई, यानी कि अनादि से औंधी पड़ी हुई दृष्टि अपनी अनंत शक्ति से, अपने ही अनंत महिमामंडित परमात्मपद से विमुख प्रवर्तन कर रही है; अतएव वहाँ उस दृष्टि (श्रद्धा) का परिणामन साधन के रूप में उपयोगी हो सके वैसा नहीं है तथापि यदि ओघसंज्ञा से समझे हुये निजात्मस्वरूप की कृत्रिम महिमा लाकरके 'दृष्टि का जोर' देने में आये तो वह प्रकार समीचीन नहीं है। परंतु यदि ज्ञान में एकमात्र निजश्रेय का यथार्थ लक्ष्य बांधने में आये, निजहित का विवेक जागृत हो, तब यथार्थ प्रकार से दर्शनमोह की मंदता शुरू हो, और यदि वह यथोचित् मंदता को प्राप्त हो तो ही वहाँ अनात्मरुचि अर्थात् पर और राग की रुचि मिट करके आत्मरुचि उद्भव हो, और जैसे जैसे वह आत्मरुचि प्रबल हो जैसे जैसे ज्ञान प्रयोजनभूत विषय में सूक्ष्म और सक्षम होता है तथा (साथ ही) आत्महित का विवेक भी बलवान होता है। तब ज्ञानरूप साधन द्वारा (यानी कि ज्ञानलक्षण से और वेदने से) परमलक्ष्यस्वरूप निजसिद्धपद की अपूर्व महिमा प्रगट होकर उसका साक्षात्कार हो तब ही वहाँ दृष्टि सीधी (सुलटी) होकर उसके जोरसे आगे बढ़ा जाए, ऐसा

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

है। अन्यथा मुमुक्षु की भूमिका में वर्त रही औंधी दृष्टि को साधन के रूप में मानकर 'दृष्टि का जोर' देने में आ रहा है वैसा भ्रम उत्पन्न होता है जो विपर्यास है। अतएव मुमुक्षु की भूमिका में साधन के रूप में दृष्टि नहीं बल्कि ज्ञान ही साधन होता है। यह वस्तुस्थित है। उसे जैसे है वैसे अवधारण करने में न आये और उक्त श्रद्धा-ज्ञान विषयक संतुलन को गवाँ देने में आये तो अनेक प्रकार से विपर्यास की उत्पत्ति संभवित है।

तथा, उपादान,-निमित्त के विषय में भी आत्महित साधने हेतु यथास्थानपर संतुलन-संधान रहना आवश्यक है। 'उपादान' निजशक्ति है जब कि 'निमित्त' संयोगरूप अन्यद्रव्य की अवस्था है। अनादि से जीव का परिणमन निमित्ताधान हो रहा होने से उसके परिहारार्थ, सत्शास्त्रों में मुख्यरूप से निजशक्ति को सँभाल करने का प्रतिपादन करने में आया है। इसी हेतु को केन्द्र में रख करके ही साधक की भूमिकानुसार निमित्तभूत ऐसे वीतरागी देव, शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों को निमित्तरूप से स्वीकार करने में आया है, और उनका बहुमान, महिमा और भक्ति आदि का निरूपण, (स्वस्थान के परिणाम की आवश्यकता का), प्रसिद्धरूप से करने में आया है।

जब तक जीव को उपादान की पहचान नहीं होती तब तक उसे उपादान की मुख्यता यथार्थरूप से नहीं होती। वैसे में यद्यपि उसकी बुद्धि निमित्ताधीन वर्त रही होती है तिस पर भी वह ओधसंज्ञापूर्वक सच्चे निमित्तों का निषेध 'उपादान की मुख्यता करने के बहाने' करता है, और मात्र कृत्रिमता से



उपादान के प्रति जोर देने जाता है तब वहाँ संतुलन संरक्षित नहीं रहता है। पूज्य श्रीमद् राजचंद्रजी का यह प्रसिद्ध वचन है कि :

**‘उपादानं नाम लई, ए जे तजे निमित्तः  
पामे नहि सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित।’**

इस प्रकरण में देशनालब्धि का अटल सिद्धांत यह है कि : परिभ्रमण करते हुए अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सजीवनमूर्ति के प्रत्यक्ष योग के बिना देशनालाब्धि की प्राप्ति नहीं होती। और इसलिये उसे सद्धर्म की प्राप्ति भी नहीं होती। यह वस्तुस्थिति है।

मुमुक्षु की भूमिका में तथा साधक की भूमिका में अनेक प्रकार से निमित्त - नैमित्तिक संबंधो का भजना होता है, इसीलिए सत्संग को उपादेयता व कुसंग की हेयता का प्रतिपादन करने में आया है। सत्संग और कुसंग के बीच यदि विवेक न रहे तो उपादान की मुख्यता अयथार्थ रूप से होकर, जीव अपना भारी नुकसान कर बैठता है।

यद्यपि कार्यसिद्धि तो स्वयं के पुरुषार्थ से ही होती है। ऐसा उपादान विषयक सम्यक् सिद्धांत है। तदनुसार परिणमन वर्त रहा होने पर भी उपादान की मुख्यता में प्रवर्तन करके धर्मात्मा, उपकारी ऐसे श्री देव-शास्त्र-गुरु का विस्मरण नहीं करते हैं। इतना ही नहीं, अपितु परोक्ष ऐसे जिनेन्द्र परमात्मा से भी विशेष महिमा-भक्ति, वे अपने प्रत्यक्ष उपकारी श्रीगुरु के प्रति करते हुए देखने में आते हैं। और वैसे आचरण में आत्म-



संतुलन यथार्थरूप से संरक्षित रहता होने से वहाँ किंचित्मात्र निमित्ताधीन दृष्टि नहीं होती है।

पात्र मुमुक्षुजीव भी अपने उपकारी श्रीगुरु की चरणोपासना परम भक्ति और परमप्रेम से करते हुए भी, अंतर में भलीभाँति समझता है कि 'वे मात्र मार्गदर्शक हैं, परन्तु कार्य तो मुझे ही करने का है।' सारांश यह है कि : उपादान-निमित्त के विषय में यथायोग्य संतुलन-संधान होकर आत्महित साधने में आये, वैसा प्रवर्तन करना हितकारी है।

तथा, आगम-अध्यात्म के विषय भी आत्म-संतुलन के दृष्टिकोण से विचारणीय है। श्री जिनागम चार अनुयोगों में विभाजित है। और मुख्यतः हर एक अनुयोग में उस अनुयोग के मुताबिक सिद्धांत प्रतिपादित हैं। जैसे कि आचरण विषयक सिद्धांत चरणानुयोग में, तथा कर्म-अवस्था संबंधी सिद्धांत करणानुयोग में प्रतिपादित हैं। उसी भाँति त्रैसटशला का महापुरुषों के जीवन-वृत्तांत प्रथमानुयोग में और वस्तु-व्यवस्था का विधान द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित करने में आया है। तथापि 'चारों ही अनुयोगों का तात्पर्य तो वीतरागता ही है।' अर्थात् चारों ही अनुयोग का केन्द्र और आशय 'आत्मस्वरूप के आधार से अध्यात्मतत्त्व की प्राप्ति होनी; वह है।-यह पारमार्थिक रहस्य, चारों ही अनुयोग में अखंडित सूत्ररूप से गूँथा हुआ है। जिसकी संप्राप्ति हेतु अध्यात्मशास्त्रों में आगम विषयक सिद्धांत से भी परे जा करके, आध्यात्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने में आया है। तिसपर भी वहाँ आत्म-संतुलन समीचीनरूप से संरक्षित रहा होने से कहीं भी पूर्वापर (यानी की आगम-अध्यात्म में)



विरोधिता नहीं होती बल्कि यथार्थरूप से अविरोधता ही साधने में आती है। यद्यपि अध्यात्म की मुख्यता में, कदाचित् आगमसिद्धांत विरुद्ध-सा वचनव्यवहार भी दिखलाई पड़े, तदपि वहाँ आगमसिद्धांतविरुद्धता करने का आशय / अभिप्राय है ही नहीं; प्रत्युत वैसे वचनव्यवहार में भी आत्महित साधने का ही मुख्य आशय गर्भित होता है।-ऐसा पारमार्थिक आशय, श्रीगुरु के हर वचन में सन्निहित रहता है; परंतु वह किसी बिरले महाभागी को ही समझ में आता है। और वह समझने में आने पर व यथोचित परिणामन करने पर ही उसे श्री गुरु की कृपाप्रसादिरूप अध्यात्मतत्त्व संप्राप्त होता है; तब उनके प्रति, उन वचनों व उनमें निहित आशय के प्रति उसके हृदय में अपूर्व अहोभाव स्फुरित होता है।

उक्त विषय की स्पष्टता हेतु यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेव अपने स्वरूप की भावना भाते हुए, श्री 'नियमसार' परमागम-गाथा : ५० में फरमाते हैं कि : उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक-चारों ही पर्याय, परद्रव्य, परभाव और हेय हैं। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि : निजस्वरूप की भावना हेतु, यों कहना / परिणमित होना वह यथोचित ही है। क्योंकि निजस्वरूप-आश्रयपूर्वक, वैसी भावना भानेपर, किंचित् भी आत्म-संतुलन गँवाने में नहीं आता। कारण कि, 'चारों ही पर्यायें जीवद्रव्य का अंश हैं' ऐसा द्रव्यानुयोग का ज्ञान, वहाँ वर्तता है, उसका अभाव हो नहीं जाता। अतएव यथार्थ प्रकार से वस्तुत्वरूप के अनुसार ज्ञान वर्त रहा होने से, ज्ञान का विपर्यास



उत्पन्न नहीं होता। परंतु वहाँ वैसा ज्ञान और ज्ञान का विषय गौण, तथा निजस्वरूप मुख्य प्रवर्तता है। यह अध्यात्ममार्ग की विशिष्टता है !

उक्त संदर्भ में, ख्याल में रखने जैसी बात यह है कि : यदि स्वद्रव्य का आश्रयरूप पुरुषार्थ न वर्त रहा हो, और उद्धृत गाथानुसार अध्यात्म-पर्यायों का निषेध, कृत्रिमता से करने जाये तो वहाँ ज्ञान की शुष्कता, उन्मत्तप्रलापता तथा निश्चयाभास व स्वच्छंदत्व जैसे अनेक दुर्गण / विपर्यास उत्पन्न हो जाए, ऐसा है। अथवा वस्तुस्वरूपविरुद्ध यानी कल्पित ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो कि प्रगटरूप गृहीतमिथ्यात्व है।

यहाँपर आगम-अध्यात्म के सिद्धांतों की अविरोधिता (-संतुलन) संरक्षित रखने हेतु, अध्यात्मशास्त्रों में प्रतिपादित, कुछ कथन विचारने के लिये प्रस्तुत हैं। यथा:

द्रव्यानुयोग के आगम-सिद्धांत के मुताबित 'जो क्षेत्र द्रव्य का है वही क्षेत्र पर्याय का है।' वैसा होनेपर भी, अनादि से जीव की दृष्टि, मात्र पर्याय के ऊपर होने से, वह अनित्यपर्याय में नित्यता का अनुभव करता है; जो कि भ्रांति है; उसे निरस्त करवाने के प्रयोजन हेतु और अपने नित्य स्वभाव के उपर दृष्टि को स्थापित करवाने हेतु-'द्रव्य के क्षेत्र से पर्याय का क्षेत्र भिन्न है'-ऐसा प्रतिपादन, अध्यात्मसिद्धांत-शास्त्रों में करने में आया है। यहाँ उक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिये, द्रव्यानुयोग के आगमज्ञान को गौण रखकर, स्वस्वरूप-आश्रय की सिद्धि हेतु यह 'क्षेत्र भिन्नता' का सिद्धांत परम उपकारभूत है परंतु स्वरूपप्रत्ययी पुरुषार्थ के अभाव में, यदि वैसा 'क्षेत्र भिन्नता'





का प्रतिपादन करने जाये तो गृहीतमिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है; यह तथ्य भी गंभीर रूप से लक्ष्य में रखने योग्य है।

इसी भाँति, 'राग' संबंधित कथन में भी यों है कि : द्रव्यानुयोग के सिद्धांत अनुसार 'राग जीव करता है;' क्योंकि 'राग जीव की ही अशुद्ध अवस्था है।' -ऐसा आगम-वचन है, जो मुमुक्षुजीव को अपने दोषों का निष्पक्षता से अवलोकन करने, स्वीकार करने हेतु उपकारभूत भी है। परंतु राग को अभाव करने के प्रयोजन की सिद्धि के लिये, तथा अनादि से प्रवर्त रही पर्यायदृष्टि को निरस्त करने हेतु, एवं आत्म - आश्रय होने के अर्थ, प्रयोजनवश-'राग जीव का नहीं है' किंतु 'राग पुद्गल का परिणाम है'-ऐसा श्री 'समयसार' अजीव अधिकार में प्रतिपादन करने में आया है। उपर्युक्त दोनों कथनों में परस्पर विरोध दिखलाई देने पर भी, हेतु सिद्धांत तात्पर्य सिद्धि के दृष्टिकोण से दोनों कथनों में अविरोधिता समाहित है, आगम-अध्यात्म-सिद्धांत का संतुलन अबाधित है।

तथापि, यदि आगम-अध्यात्म विषयक संतुलन-संधान न हो तो 'राग जीव का ही है' ऐसा वजन बढ़ जानेपर, जीव की पर्यायदृष्टि (-दर्शनमोह) तीव्र हो जाती है। इसी भाँति स्वरूपप्रत्ययी पुरुषार्थ बगैर, यदि 'राग पुद्गल का ही परिणाम है' ऐसे स्थापित करने में आये तो, वहाँ निश्चयाभास होकर गृहीतमिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। अतएव ऐसे दोनों प्रकार योग्य नहीं हैं, अहितकर हैं। ऐसे अहित से बचने हेतु, मुमुक्षुजीव को राग को स्वीकार करने और अस्वीकार करने (निषेध करने) के विषय में संतुलन-संधान करना अति आवश्यक है। यदि संतुलन-संधान न रह



पाये तो वैसे अनधिकारी जीव के लिये तो शास्त्र है वह शास्त्र बन पड़े, ऐसा है।

इसी भाँति, द्रव्य-पर्याय के विषय में भी ऐसा विचारणीय है कि : पदार्थ-विज्ञान के अनुसार जीवपदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। उसमें द्रव्यसामान्य है, वह अवलंबन का विषय है तथा पर्याय है। वह जानने का / अनुभव करने का विषय है। द्रव्यस्वभाव के अवलंबनपूर्वक शुद्धपरिणमन उत्पन्न होता है, अनुभव में आता है-ऐसा परिणमन, मोक्षमार्गी जीवों को वर्तता है, वहाँ आत्म-संतुलन सहजरूप से रहता है।

जब तक उपर्युक्त प्रकार से द्रव्यस्वभाव का अवलंबन हाथ नहीं आता हैं तब तक आत्म-संतुलन भी संरक्षित नहीं रहता। कारण कि : अनादि से जीव को मात्र पर्याय का अवलंबन प्रवर्त रहा है; यह स्थिति पलटे नहीं तब तक, जीव अनेक ऊपाय करे तो भी, उसका वजन उस उपायरूप पर्याय के उपर रहता होने से उसका अवलंबन भी स्वयमेव लेने में आ जाता है; अतएव वहाँ आत्म-संतुलन-संधान नहीं रहता। और उसके फलस्वरूप विपर्यास उत्पन्न होकर पर्यायदृष्टि विशेष दृढ़ हो जाती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि : धर्मात्मा को तो प्रथम स्वानुभूति के काल में (चतुर्थ गुणस्थान में) अपूर्व आनंद का अनुभव पर्याय में होता है और पश्चात् उसकी परिणति प्रवाहित रहती है; ऐसा होनेपर भी उन्हें उस पर्याय की मुख्यता कभी भी नहीं होती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिजीव, मुनिदशा और मोक्षदशा आदि आध्यात्मिक पर्यायों की भावना व महिमा भी करते हैं,



तिसपर भी, वे पर्याय मात्र को गौण-(जानने के स्थानपर), तथा त्रिकाली निजस्वभाव को मुख्य (अवलंबन के स्थानपर) रखकर, यानी कि स्वस्वभाव को निरंतर अवलंब करके, प्रवर्तन करते हैं; कहीं भी आत्म - संतुलन गँवाते नहीं हैं; अतएव वे मोक्षमार्ग में सहज आगे बढ़ते रहते हैं। अहो ! ऐसा अद्भूत आत्म-संतुलनरूप प्रवर्तन / परिणमन धन्य है !

स्वभाव-सन्मुख-ज्ञान के बिना, मात्र धारणाज्ञान से, यदि स्वभाव के प्रति कृत्रिम जोर देने में आवे तो भी, वहाँ वस्तुतः स्वभाव की मुख्यता होती न होने से, पर्याय की मुख्यता नहीं छुटती है। और वैसे प्रकार में आत्म-संतुलन वर्तता न होने से वहाँ निश्चयाभास आदि विपरीततायें उत्पन्न होती हैं। यहाँ महत्त्व की बात यह है कि : निश्चयस्वरूप का अवलंबन लिये बगैर ही जीव, पर्याय में खड़ा रहकर द्रव्य-पर्याय-दोनों का अस्वीकार करता है, जिसका उसे खयाल भी नहीं है ! यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि, जो जीव किसी भी बहाने से पर्याय के ऊपर वज्रन दे, पर्यायकी मुख्यता करे, पर्याय का अवलंबन ले तो वहाँ आत्म-संतुलन रह ही नहीं सकता है। यह वस्तुस्थिति / मर्यादा है !

अब यहाँ, द्रव्य से पर्याय की अभिन्नता व भिन्नता के विषय को भी आत्म-संतुलन के दृष्टिकोण से विचारना योग्य है।

आचार्यवर श्री उमास्वामी द्वारा प्रणीत यह सूत्र 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्'-वस्तुविज्ञान को प्रसिद्ध करता है कि : प्रत्येक विद्यमान पदार्थ, अपने मुलस्वरूप से (ध्रौव्यरूप से) त्रिकाल स्थित रह करके निरंतर (उत्पाद-व्ययरूप से) परिणमता रहता



है। हरएक पदार्थ शाश्वत है, नित्य है; तथा पदार्थ की उत्पाद-व्ययरूप पर्याय क्षणिक है, अनित्य है। इसप्रकार एक ही पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व-दोनों धर्म होनेपर भी, वे सदा साथ ही रहते हैं, अविरुद्धरूप से साथ ही रहते हैं।-ऐसा विरुद्धधर्मत्व पदार्थ का स्वरूप है।

यहाँ गवेषणीय यह है कि : उत्पाद-व्ययरूप पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न है या अभिन्न है ? तो सिद्धांत के अनुसार तो पर्याय है वह द्रव्य से कथंचित् भिन्न भी है और अभिन्न भी है।

अब, आत्मार्थी को पर्यायकी उक्त कथंचित् भिन्नता और अभिन्नता के दोनों न्याय किस भाँति उपकारी होते हैं वह आत्मलक्ष्य से अवधारणीय है। यहाँ प्रथम पर्याय की अभिन्नता के बारे में यों विचारणीय है कि : पर्याय यानी अनित्य द्वारा, नित्य यानी द्रव्य का ज्ञान (-अनुसंधान) संप्राप्त होता है; जैसे कि उपयोग लक्षण द्वारा त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का लक्ष्य होता है; इस न्याय से, पर्याय की कथंचित् अभिन्नता, द्रव्य पर्यंत पहुँचने में उपकारी है। और वैसा होनेपर आत्म-संतुलन संरक्षित रहता है। इसी तरह पर्याय की कथंचित् भिन्नता के बारे में यों विचारणीय है कि :-

शुद्ध पर्याय माने स्वभाव के साथ-अभेदभाव-सदृशभाव साधती पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। जैसे कि : ध्यान विनश्चर है तथा ध्येय अविनश्चर है (-श्री 'समयसार' गाथा-३२० की आचार्यदेव जयसेन स्वामी की टीका) इसी तरह अध्यात्म के प्रकरण में भी 'मुख्य है वह निश्चय' होने से तथा 'व्यवहार

० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०  
 गौण होने से पर्याय की कथंचित् भिन्नता का ज्ञान भी  
 उपकारभूत है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय यह है कि : यदि पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न हो ही नहीं तो पर्याय की स्वतंत्रता नहीं रहती। और यदि पर्याय की स्वतंत्रता का ही स्वीकार न करने में आये तो नव तत्त्व ही स्थापित हो सके ऐसा नहीं है। इसी तरह अनादि संसाररूप अशुद्ध अवस्था / परिणमन का कारण भी द्रव्यस्वभाव को ही स्वीकारना पड़े; और यदि ऐसा स्वीकार ने / मानने में आये तो अशुद्ध अवस्थारूप परिणमन करना वही द्रव्यस्वभाव सिद्ध हो और अतएव वहाँ मोक्ष यानी शुद्धता प्रत्ययी पुरुषार्थ का ही प्रसंग निरर्थक सिद्ध हो; परन्तु वह असंभवित है; कारण के : जीवस्वभाव में तो अशुद्धता का सर्वथा ही अभाव है; और अशुद्धता के अभावरूप यानी शुद्धतारूप परिणमन करना ही उसकी पर्याय का धर्म है; कर्तव्य है। एवं अन्य कोई भी द्रव्य-भाव से या उसके निमित्त से अन्य द्रव्य में कुछ भी हो वह भी वस्तुमर्यादा के बाहर है। तथापि सर्व संसारीजीवों को अनादि से अशुद्धता और दुःख का अनुभव तो निरंतर वर्त ही रहा है कि जो सर्वसामान्य को अनुभवगोचर भी है, वह जीवस्वभाव के अनुरूप नहीं है। और इसी तरह वैसा विकृत परिणमन जीवस्वभाव के अधीन भी नहीं है। अतः पर्याय की कथंचित् स्वतंत्रता / भिन्नता स्वयमेव सिद्ध होती है। तथा पर्याय की कथंचित् भिन्नता का यथार्थरूप से स्वीकार करनेपर पारमार्थिक प्रयोजन भी सिद्ध होता है; जो निम्न प्रकार से है :-



१. पर्याय की सर्वथा अभिन्नता स्वीकारने से, अज्ञान और विपरीत अभिप्राय के कारण होनेवाले, राग-द्वेष-मोह की निवृत्ति नहीं होती। जैसे कि किसी का दोष पर्याय में होते हुए भी, दोष करनेवाले जीव को पर्याय से अभिन्न स्वीकार करके उस जीव के प्रति द्वेष होता है, वह पर्यायदृष्टि है, अज्ञान है। वैसे प्रसंग में ज्ञानी धर्मात्मा को तो मात्र उस दूषित पर्याय का ही निषेध आता है। परंतु किसी जीव (आत्मा) के प्रति द्वेष / निषेध नहीं आता। इसीलिये ज्ञानी किसी भी जीव को वैरभाव से नहीं देखते।

२. जो जीव पर्याय की स्वतंत्रता के सिद्धांत को स्वीकार नहीं सकता है, वह जीव द्रव्य की स्वतंत्रता को भी स्वीकार ही नहीं सकता। पर्याय की स्वतंत्रता / भिन्नता को न स्वीकारने का अभिप्राय, परमार्थ की सिद्धि का प्रतिबंधक भाव है। वैसा अभिप्राय संबंधी दोष, उक्त भिन्नता के सिद्धांत का स्वीकार होने पर निवृत्त होता है।

३. पर्याय की स्वतंत्रता / भिन्नता का ज्ञान सहजरूप से, पर्याय की गौणता करवाता है और जिससे पर्याय की उपेक्षा होकरके, स्वभाव की मुख्यता में आ पाता है। यह अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण न्याय है।

तथा, उल्लेखनीय है कि : आध्यात्मिक प्रयोजनवश पर्याय की स्वतंत्रता दर्शाने हेतु पर्याय के षट्कारकरूप धर्मों का जो प्रतिपादन करने में आया है, उसमें श्रीगुरु की महत् कृपा है। यह न्याय, पर्याय की स्वतंत्रता को भलीभाँति दर्शाने हेतु महत्त्वपूर्ण है।



आत्म-संतुलन को संरक्षित रखनेवाले आत्मार्थी जीव को पर्याय द्रव्य से कथंचित् अभिन्न है और वह वस्तु की अंगभूत है, ऐसी वस्तुस्वरूपव्यवस्था (Constitution) का ज्ञान वर्तता है, और पर्याय की स्वतंत्रतापर भार देनेवाला, कहीं भी संतुलन गँवाये बगैर, स्वभाव की मुख्यता होनेपर, आत्मार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को संप्राप्त होता है।

-उक्त सभी कथनों का तात्पर्य यह है कि : वस्तुस्वभाव और उसकी प्राप्ति का मार्ग-ये दोनों विभिन्न नयों-निश्चय और व्यवहारनय-के विषय होनेपर भी, वे दोनों परस्पर पारमार्थिकरूप से जुड़े हुए हैं और उसमें अत्यंत सूक्ष्मता रही हुई है। वह ज्ञानी पुरुष के ज्ञान में विशदरूप से प्रकाशित है और अनुभवगोचर है। परन्तु ये दोनों विषय संकेतमात्ररूप से वचनगोचर होते हैं और बहुभाग विषय तो वचनगोचर है, जिससे आत्मार्थी जीव की संतुलित अवस्था बने रहने में अनेक प्रकार से कठिनाई होती है। यदि आत्मार्थी यथार्थरूप से संतुलन संरक्षित रख सके तो वैसा पुरुषार्थ वास्तव में मुमुक्षु की समीचीन भूमिका का है। उसी भाँति वह ज्ञानी पुरुष के हृदय में रहा हुआ रहस्य भी है कि जो वचन द्वारा कथंचित् अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। अतः आत्मार्थी को उसके अर्थगांभीर्य पर्यंत पहुँचने हेतु प्रयास करने योग्य है। जो आत्मार्थी, ज्ञानीपुरुष की अभिव्यक्ति के, अर्थव्यक्ति के अर्थगांभीर्य तक पहुँचता है वह उन्मार्ग से बचकर सन्मार्ग में स्थिर होता है।

अंत में, उक्त विवेचित विषय में आधारभूत एक मुख्य बात यह अवगाहन करने योग्य है कि : मोक्षमार्ग के अभिलाषी



जीव को, निर्विघ्नता से मोक्षमार्ग पर्यंत पहुँचने हेतु, सर्वप्रथम व्यवस्थित कार्यपद्धति अपनानी चाहिए। अनादिकाल से अनंतबार धार्मिकक्षेत्र में मुमुक्षुयोग्य प्रवृत्ति-स्वाध्याय, भक्ति, समर्पण आदि-करने पर भी, अव्यवस्थित कार्यपद्धति को अंगीकार करने के कारण, आज पर्यंत संसारचक्र का एक भी चक्कर दूर (कम) नहीं हुआ। अतएव जबतक श्री गुरु की आज्ञा के अधिन वर्त करके, पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत न हो, तब तक कोई भी जीव अपनी मति कल्पनानुसार जब-तब (मुमुक्षु योग्य) वर्तन करे तो भी वह गोते खाता ही रहता है, और रहेगा। अतः आत्मार्थीजीव को सर्वप्रथम ज्ञानी अनुभवी सजीवनमूर्ति के मार्ग पर ही चलने का दृढ़ निश्चयी होना परम आवश्यक है। नहीं तो यह दुर्लभ योग अयोगरूप हो जायेगा, और साथ ही साथ समय और शक्ति का अपव्यय होकर के नवीन गुत्थियाँ खड़ी होकर के, प्राप्त की प्राप्ति में स्वयं के ही खड़े किये गये अवरोध प्रतिबंधरूप सिद्ध होंगे। अतः मुमुक्षुजीव को सर्वत्र व्यवस्थित कार्यपद्धतिरूप आत्म-संतुलन-संधान के बारे में सतत उद्यमशील और जाग्रत रहने योग्य है।

ॐ शांति।







## अष्टांग वि□षित अखण्ड सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन सदैव आठों ही अंगों से पूर्ण-अखण्डित होता है। अतएव किसी भी सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा के इनमें से एक भी अंग न्यून हो या क्षतिवाला हो, वैसा खण्डित सम्यग्दर्शन नहीं होता। अतः सभी सम्यग्दृष्टि सर्वदा-सर्वत्र अखण्डित सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं।

केवलज्ञानादि परिपूर्ण आत्मदशा प्रगट होने का मूल सम्यग्दर्शन है। जो आत्मार्थी जीव को प्रगट करने योग्य है। एतदर्थ आत्मार्थी जीव को स्वस्वरूपदर्शन के प्रति गतिमान रहने हेतु या स्वस्वभाव की समीपता हेतु अपनी प्रवर्तमान भूमिका में परिणाम की यथोचित निर्मलता होनी अत्यावश्यक है। तदर्थ, महान अष्टांगी ऐसा जो अखण्ड सम्यग्दर्शन, उसके प्रत्येक अंगभूत भावों के स्वरूप को भलीभाँति जानकर-पहचानकर, तदनुसार स्वयं के परिणामों को गढ़ने का प्रयास करना योग्य है।-इस दृष्टिकोण से, श्री 'समयसार' परमागम के आधार से यहाँ उक्त विषय का यथाशक्ति विवरण प्रस्तुत है :

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों को गुणों की संज्ञा दी गई है। ये आठ अंग-गुण प्रसिद्ध हैं। यथा: निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन (या उपबृंहण), स्थितिकरण,



वात्सल्य तथा प्रभावना।

उपर्युक्त आठ गुण-अंग निश्चयपरिणामरूप और व्यवहार-परिणामरूप-दोनों प्रकार से, चतुर्थ गुणस्थान में अविरत सम्यग्दृष्टि को स्वानुभूतिरूप शुद्धोपयोग के काल में, यानी कि निर्विकल्पदशा में ही योग्यतारूप से प्रगट हो जाते हैं।

**१. निःशंकित अंग :-** सम्यग्दृष्टि जीव अपने को सदा 'एक ज्ञायकभावमय' परिणति द्वारा अनुभवता है। 'मै मात्र ज्ञायक हूँ' ऐसा निर्विकल्प भान उसे सतत वर्तता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित, निज स्वरूप सहज प्रत्यक्ष होने के कारण, और वह उसके श्रद्धा-ज्ञान में प्रत्यक्ष व मुख्य रहता होने से, उसे ऐसी शंका कि 'मैं कर्मों से बंधा हुआ हूँ' कभी उत्पन्न ही नहीं होती। प्रत्युत वह तो धाराप्रवाहरूप से अपने ज्ञानानंद-रस का निरंतर पान किया करता है। और अंतरमें अपने चैतन्य के अमृतरस को पीते-पीते मोक्षमार्ग को अविरत साधता रहता है। साथ ही उसको अपने शाश्वत अव्याबाधस्वरूप की ऊर्ध्वता व प्रतीति वर्तती रहने से, उसे कोई भी प्रकार का भय (यथा: इहलोक व परलोकभय, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण और आकस्मिक-इन सात प्रकार के भयोंमें से कोई भी भय) उत्पन्न नहीं होता। भयरहित, अपना स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर वर्त रहा होने से वह समस्त प्रकार के भय के प्रति उदासीन है अतएव उसे इहलोक या परलोक संबंधित किसी भी प्रकार का भय उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि उसे वर्तमान में पूर्वकर्मरूप संचित प्रारब्ध उदय में आता है, तथापि उसका स्वामित्व निःशेष हो जाने के कारण, इष्टसंयोग की हानि व अनिष्ट संयोग



की प्राप्ति विषयक भय उत्पन्न नहीं होता। उसको निजस्वरूप के अवलंबन से ऐसी अलौकिक निःशंकता वर्तती है कि जिसको लेकर वह सहज ही सर्वत्र निर्भय रहता है।

यद्यपी सत्तागत द्रव्यकर्मों का उदय आने पर सम्यग्दृष्टि को परिणामों में कभी अस्थिरताजन्य अल्प भयरूप मचक (लचक) आ जाती है, जो अत्यंत गौण रहती है। क्योंकि ऐसे में भी उन्हें ज्ञातृत्वपरिणति की अत्यंत मुख्यता प्रवर्तती होने से वे वैसे चारित्रमोहजन्य अस्थिर परिणामों के प्रति उदासीनरूप से मात्र ज्ञाता रहते हैं, अकर्ता रहते हैं। तथा वैसी मचक से सर्वथा भिन्न, उन्हें ज्ञानमयस्वरूपरूप निजानुभव अविच्छिन्नरूप से रहता है। और यही ज्ञानी की मुख्य-अंतर् परिणति-दशा है। ऐसा, अंतरंग में सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा का निश्चयपरिणमन वीतराग भावरूप होता है। तथा इस परिणमन का मुख्य आधार 'निज परमात्मद्रव्य' है।

उक्त सहजस्वरूप के स्वरूपाकार परिणमन के सद्भाव में सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा के विकल्पात्मक परिणाम भी तदनुसार यथोचित ही होते हैं; अनर्गल नहीं होते। यानी कि उनके व्यवहाररूप बाह्य परिणामों में-वीतरागी देव, गुरु, सत्पुरुष और शास्त्रसिद्धांतों के प्रति-परम निःशंकता वर्तती है। ऐसे आप्तपुरुषों के वचनों के प्रति उन्हें कहीं संदेह उत्पन्न नहीं होता। उसी भाँति वे किसी भी प्रसंग में 'शंका और भय को लेकर' मार्ग से कभी भी विचलित नहीं होते; वरन् वे तो सदा अडिग ही रहते हैं। 'चिंता हो... भय हो' वैसे उपस्थित कारणों को देखकर भी, उन्हें स्वस्वरूप के आश्रय से निश्चिंतता और निर्भयता ही



वर्तती है।

ज्ञानी धर्मात्मा के उपर्युक्त स्वरूप को पहचाननेवाला आत्मार्थी जीव भी अपनी प्रवर्तमान भूमिका में आत्मभावनापूर्वक स्वस्वरूपरस घोटता है। वह आत्मार्थ के प्रति दृढ़ निश्चयपूर्वक प्रवृत्ति करता है। तथा निःशंकता और निर्भयता हेतु पुरुषार्थशील रहता है। एवं जब जब भय या शंकादि के परिणाम उत्पन्न होते हैं तब तब, वह उसी समय जागृति के प्रयासपूर्वक अपने ज्ञानतत्त्व को अवलोकन में लेकर, वैसे (भयादि) परिणामों का निषेध करता है। समस्त प्रकार के उदय को मात्र कर्म-प्रसंग मानकर, उन सर्व प्रसंगों से, वह स्वयं भिन्नरूप-ज्ञातारूप रहने का बारंबार प्रयास / प्रयोगात्मक अभ्यास करता है। परंतु लौकिक जनों की भाँति भयभीत होकर के वहम या शंका में नहीं पड़ता। इसीलिये वह कभी भी मंत्र, तंत्र, ज्योतिष, कुदेव-कुदेवी आदि का आश्रय नहीं लेता। जो लोग कुदेव, ज्योतिष, मंत्र, तंत्र इत्यादि का आश्रय लेते हैं वे तो मुमुक्षु की ही भूमिका से दूर रहते होने के कारण, सम्यग्दर्शन से तो स्वतः अति दूर हो जाते हैं। अतः यह वास्तविकता, लक्ष्य में लेने / रहने योग्य है।

उल्लेखनीय है कि: सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा की 'निःशंकता,' आत्मार्थी जीव को 'भय से होते दुःख की निवृत्ति हेतु' परम प्रेरणास्पद है। अतः आत्मार्थी जीव का यह कर्तव्य है कि, वह इस 'निःशंकित अंग' को मात्र विचार की मर्यादा में ही न रखे; अपितु निजअंतर-अवलोकन के प्रयोग से 'भय से उत्पन्न होनेवाले आर्त्तध्यान के कषाय-रस को तोड़ने का' पुरुषार्थ



करें। यदि ऐसा न करने में आये तो, मात्र राग के आधार से किया गया 'विचार' उदयकाल में कुछ भी सार्थक नहीं बनता। क्योंकि वैसे में, 'विचार में गृहित बात' तो एक और पड़ी रह जाती है और उदय के प्रति 'तीव्ररस' ले लिया जाता है। यानी कि 'मात्र विचार' में 'कषाय-रस' को यथार्थ प्रकार से तोड़ने की शक्ति का ही अभाव होता है; अतः वैसा विचारबल टिक / स्थिर नहीं रह पाता; और कालांतर में परिणाम की निर्बलता वृद्धिगत होकर वह शंकाशील हो जायेगा। अतएव आत्मार्थी जीव को निःशंकता हेतु अंतर-अवलोकन का प्रयोगात्मक पुरुषार्थ करना चाहिए। 'निःशंकता से निर्भयता उत्पन्न होती है' (-'श्रीमद् राजचंद्र/पत्रांक : २५४)।

**२. नि-कांक्षित अंग :-** मोक्षमार्ग में विचरण करते धर्मात्मा को, समस्त प्रकार के कर्म और नोकर्म (-कर्मफल) के अभावरूप, अपना एक ज्ञायकभावमयस्वरूप-सुखस्वरूप का संवेदन निरंतर वर्तता है; जिससे उन्हें कर्मजनित शुभप्रकृति के उदयरूप सुख की आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती।

वस्तुतः सर्व प्रकार के कर्मफल जड़-पौद्गलिक पर्यायें होने से वे, सम्यक् ज्ञान में, प्रत्यक्ष तौर से सुख से रहित यानि कि सुख के अभावरूप और सुख से सर्वथा शून्य ही भासित होती हैं; अतएव सुखरहित वैसे उन पदार्थों के प्रति, उन पदार्थों से सुख प्राप्ति की भावना अर्थात् आकांक्षा कैसे उद्भव हो ?

तथा, जहाँ ज्ञानी को अस्थिरतावश परपदार्थों की और अपने उपयोग के आकर्षित होने पर, वैसे सभी बाह्य परिणाम, प्रत्यक्षतः दुःखरूप अनुभव में आते हों, वहाँ उनमें कहीं सुख की कल्पना



होने का अवकाश ही कैसे संभव है ?

भूतकाल में-अज्ञानदशा में जो सुख, सुख न था तथापि वह, भ्रांति से सुखरूप अनुभव में आया था-वैसी भूल /भ्रांति, ज्ञान के वर्तमान ज्ञान में स्पष्ट भास्यमान होने से, वैसी भूल / भ्रांति का पुनरावर्तन होना कैसे संभव है ?-ऐसा होना संभवित नहीं; क्योंकि उन्हें तो संसार के सर्व प्रकार के भोगोपभोगरूप पौद्गलिक वैभव के प्रति सुखाभासपूर्वक उपजनेवाली वांछा का ही अत्यंत अभाव वर्तता है।

यद्यपि धर्मात्मा की साधकदशा होने से कदाचित् अस्थिरताजन्य किंचित् वांछा के परिणाम हो आते हैं जो यथार्थतः रसविहीन होते हैं तो भी उनका वे दुःखरूप अनुभव करते हैं; अतएव उन्हें चारित्रमोहजन्य वांछा के परिणाम का निषेध वर्तता है। ज्ञानी को 'राग का राग' कदापि नहीं होता। 'राग का राग' अनंतानुबंधी का प्रकार है जो अज्ञानी के ही होता है।

ज्ञानीपुरुष को आत्मगुण प्रगट हुये होने से और यदि बाह्य पुण्ययोग हो तो कोई मुमुक्षु उनकी प्रशंसा-बहुमानादि करता है, तब भी उनका परिणमन, वैसे प्रकार से निर्लिप्त यानी कि वैसी वांछा से रहित होता है।

परिपूर्ण निज ज्ञायकस्वभावमयता को लेकर ज्ञानी को सम्यक् तृप्ति का सद्भाव वर्तता होने से तथा अतृप्तिरूप वांछा-आकांक्षा का असद्भाव होने से, उनकी पूर्वकर्मोदयप्रसंगजन्य उदयाधीन कार्यो में सहज अप्रयत्नदशा प्रवर्तती है।-ऐसा निःकांक्षित अंगरूप धर्मात्मा का अंतरंग-निश्चय परिणमन होता है। आत्मस्वभाव भी



स्वयं की परिपूर्णमयता को लेकर वह आकांक्षा के अभावस्वभावरूप है तथा तदाश्रित ज्ञानदशा का परिणमन भी आकांशरहित यानी स्वभावसदृश होता है।

अंतरंग निःस्पृहा को लेकर ज्ञानी के व्यवहार-परिणामों और प्रवृत्तियों में किसी भौतिक सुख की स्पृहा नहीं होती। ज्ञानीपुरुष का बाह्यजीवन, पूर्वप्रारब्धयोग अनुसार अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र उदयप्रसंगों के बीच, सहज वैराग्यसहित ही होता है। जिन्हें राग में ही रस न हो तो उन्हें राग के विषयभूत भिन्न-पदार्थों में रस रहने का सवाल ही कहाँ? अतः ज्ञानी को सर्व औदयिक भावों के प्रति सहजरूप से ही नीरसता-उदासीनता वर्तती होने से उन्हें सर्व बाह्य प्रसंगों में सहज विरक्ति ही रहती है। अतएव ज्ञानी पूर्वोदय अनुसार सांसारिक कार्यों के बीच दिखाई देने पर भी वे उनके प्रति रसहीन परिणाम से प्रवर्तते हैं। श्रद्धेय पं. बनारसीदासजी ने सत्य ही फरमाया है कि: 'ग्यानकला जिनके घट जागी; ते जगमांहि सहज वैरागी।'

यहाँ उल्लेखनीय हैं कि अज्ञानदशा में जीव का परिणाम सदैव भविष्य की चिंता-भय से ग्रसित रहा ही करता है। अज्ञानी का जीवन संयोग-आधारित होने से वह कभी चिंतामुक्त नहीं होता। यह अज्ञानदशा का एक खास लक्षण है। जब कि ज्ञानीपुरुष का अपना पूर्णस्वरूप-आधारित जीवन होने से उन्हें भविष्य की चिंता ही उत्पन्न नहीं होती जिससे वे सदा निश्चिंत ही रहते हैं। ऐसी अलौकिक चित्त-प्रसन्नता के प्रकार से प्रगत वर्तती ज्ञानी की वैसी निश्चिंतदशा के दर्शन और उसकी प्रतीति, उनके निकट परिचय में आनेवाले उस मुमुक्षु को होती है



जो स्वाश्रय हेतु प्रयोगवन्त हो; यानी कि जो अपनी प्रवर्तमानदशा का मिलान, ज्ञानी की उक्त वर्तती दशा से करता हो।

यद्यपि ज्ञानी को भी पूर्व अशुभकर्मोदय से रोगादि या अन्य प्रकार की प्रतिकूलताओं के प्रसंग आते हैं किंतु वे स्वस्वरूप के प्रति सतत जाग्रत रहते होने से, और वैसी परिस्थिति में उनका पुरुषार्थ सहज वर्धमान होने के कारण, कर्म की विशेषरूप से निर्जरा करते हैं। वे अज्ञानी लोगों की भाँति अनुकूल परिस्थिति की वांछा से कभी भी मंत्र, तंत्र, ज्योतिषविद्या, ऋद्धि-सिद्धि या कुदेवादि का आश्रय नहीं लेते। उनका बाह्यजीवन-स्वयं से भिन्न-मात्र उदयाधीन वेदित होने से, उसमें उन्हें कहीं विषमता नहीं होती।

ऐसे निःकांक्षित अंगधारी ज्ञानीपुरुष के अन्तर् स्वरूप की पहचान करनेवाला मुमुक्षुजीव भी उनके मार्ग पर चलने का दृढ़ निरधार करके तदनुसार बारंबार प्रयत्न करता है और अपनी भूमिका के प्रमाण में वैराग्य व उपशम के परिणाम को गढ़ता है; आरंभ-परिग्रह में जिस तरह निजत्व (स्वत्व) मिटे वैसा यत्न करता है; लौकिक व्यवहार और व्यवसाय आदि प्रवृत्तियों का जैसे बने जैसे संक्षेप करके लोकसहवास घटाता है। तथा लोकसंज्ञा मिटाने का प्रयत्न करता है। साथ ही वह व्यवहार धर्मक्रिया- दया, दान, जप, तप, शास्त्रज्ञान, पूजा, भक्ति, यात्रा आदि-में प्रवर्तता होने पर, तद्संबंधी प्रतिष्ठा, प्रशंसा, मानादि की वांछा किसी भी तरह से उत्पन्न न हो तदर्थ पूरी सावधानी रखता है एवं मानादि के सर्व प्रसंगों से ही दूर रहने का प्रयास करता है। सन्मार्ग प्राप्ति के उक्त ऐसे मुख्य





अवरोधक भाव उत्पन्न न हों वैसी जागृति में मुमुक्षु वर्तता है।

आत्मारथी जीव के भी स्वरूपप्राप्ति की अपूर्व भावना जाग्रत होने से उसे उदयकर्मों में कहीं भी रस नहीं पड़ता है बल्कि जो कार्य सिर पर आ पड़े वह उल्टा बोझरूप लगता है जिससे इच्छाओं का रस और चिकनापन घटता है और परिणमन में मल व विक्षेप मिटते जाते हैं। इंद्रियविषय के भोग भोग ने के काल में भी वह अपने परिणामों का अवलोकन करता है और 'सुखाभास यह दुःख है' इसका अनुभवपूर्वक तात्त्विक निर्णय करता है। वांछारूप विकल्प की आकुलता के अनुभव की जाँच कर के वह अनुभवपद्धति द्वारा दुःख को समझता है जिससे उसे वर्तमान मुमुक्षुभूमिका में ही भावी सम्यक्त्व की निःकांक्षित अंगरूप दशा प्राप्ति की कारणरूप उदासीनता पल्लवित होती जाती है।

चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंग और दुःख के निमित्त सामने आ जायें तो भी मुमुक्षुजीव कभी भी दर्शनमोह वृद्धिगत हो ऐसे मंत्र, तंत्र, चमत्कार या कुदेवादि की वांछा कर के, सन्मार्ग प्राप्ति के उपाय से विचलित नहीं होता।-ऐसा विचारबल मुमुक्षु के सहज ही होने योग्य है।

'आत्मस्वरूप परिपूर्ण है' ऐसे लक्ष्य और जोर को लेकर, मुमुक्षुजीव यथार्थ समझ की भूमिका में, पर से उदासीनतारूप वैराग्यवश, इच्छा के परिणाम को गौण करता है। इस भाँति मुमुक्षुजीव को भी यथाशक्ति धर्मात्मा के निःकांक्षित अंग का अनुसरण होता है; जिससे वैसे समीपभाव में, उसको यथासमय वैसा (तदरूप) परिणमन उत्पन्न हो जाता है।



### ३. निर्विचिकित्सा अंग :- धर्मात्मा को, समस्वभावी

ज्ञायकस्वभावमयता के कारण, परिणाम में विषमता का अभाव वर्तता है। ऐसे ज्ञानी, जिन्होंने ज्ञातापने के पुरुषार्थ द्वारा वस्तुदृष्टि को संवर्द्धित कर, इष्ट-अनिष्टत्व की कल्पना को निर्मूल कर डाला है; जिससे उन्हें कोई भी अन्य पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं भासता / लगता है।-ऐसे सहज-अंतरंग-निश्चय परिणमन के फलस्वरूप उनके ग्लानि का अभाव वर्तता है। सम्यग्ज्ञान की निर्मलता में सर्व पदार्थ 'मात्र ज्ञेयरूप' से भासित होते हैं अतएव उन्हें किसी भी पदार्थ के प्रति जुगुप्सावृत्ति नहीं होती।

यथा : 'रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्व मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो' ॥-अपूर्व अवसर, १२ ॥-ऐसे श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक, चारित्रमोह के उदयभाव में यानी कि जिस परिणमन का निजरूप से अनुभव न हो वैसे उदयभाव में, ज्ञानी को क्वचित् वैसा भाव हो जाये तो, वे उसके भी भिन्नरूप से ज्ञाता रहते हैं; कर्ता नहीं होते।

लौकिक जीव को विष्ठा आदि जुगुप्साप्रेरक पदाथो के प्रति स्वाभाविक जुगुप्सा (घृणा) हो जाती है। परंतु ज्ञानी की वस्तुदृष्टि में वस्तुधर्म की प्रधानता वर्तती होने से-पुद्गल को सामान्यरूप से जानने पर-उन्हें, उसकी वर्तमान पर्याय गौण हो जाने से, ग्लानि नहीं होती।

ज्ञानी तो स्वयं मुनिदशा की भावना भाते हैं और वैसी अपूर्व दशा में अस्नानतादि व्यवहार की व्यवहार से उपादेयता जानते हैं; अतएव उन्हें मुनिराज के दर्शन के समय उनके अस्वच्छ शरीर के प्रति जुगुप्सा नहीं होती; बल्कि 'पवित्र

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

वीतरागदशावंत मुनिराज का देह भी पवित्रता से विभूषित है-  
ऐसे भाव में, उनके पुनीत चरणकमल की समीपता और भक्ति  
से ज्ञानी का हृदय आर्द्र (पुलकित) हो जाता है। तथा उनके  
दर्शन, सेवा, चरणप्रक्षालन व आहारदान आदि कर वे स्वयं  
धन्यता अनुभव करते हैं।-ऐसे में ग्लानि होने का अवकाश ही  
कैसे हो ?

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के उपर्युक्त प्रकार से निश्चय और  
व्यवहाररूप निर्विचिकित्साअंग प्रवर्तता है, जो उनकी शोभा है।

तदनुसार आत्मार्थी जीव भी अपने परिणमनमें से विषमता  
को टालने का सतत प्रयास करता है। तदर्थ वह भेदज्ञान  
के प्रयोग और पुरुषार्थ द्वारा निज ज्ञानस्वभावी आत्मा की जागृति  
का बारंबार उद्यम करता है एवं अन्य समस्त पदार्थों को 'मात्र  
ज्ञेयरूप' अवलोकन कर के, उन पदार्थों में प्रवर्तमान, अपनी  
इष्ट-अनिष्ट बुद्धि को निरस्त करने हेतु प्रयत्नवंत रहता है।

'जगत की समस्त वस्तुयें अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-  
भावरूप स्वचतुष्टय से सर्वथा और सर्वदा भिन्न हैं'-इस प्रकार  
स्वयं में उन परपदार्थों की अव्यापकता का अवलोकन वह सतत  
अपने ज्ञान में करता रहता है। तथा 'वे पदार्थ ज्ञान में (पररूप  
से) ज्ञात होने पर भी उनका वेदन-अनुभवन नहीं होता'-ऐसा  
उसे वास्तविकतारूप से लगने पर, वह स्वस्वभाव के लक्ष्य  
से और आत्महित के लक्ष्य से यानी कि यथार्थ लक्ष्यपूर्वक-  
किसी भी पदार्थ के प्रति ग्लानि न हो वैसा-निर्विचिकित्सापने  
का अनुसरण करता है और मोक्षमार्ग के प्रति आगे बढ़ता  
है। इस प्रकार के बारंबार के प्रयत्न से विभावरस क्षीण होता



जाता है व स्वस्वभाव की समीपता होती जाती है।

-इस भाँति आत्मार्थी की भूमिका में कारणरूप परिणमन उत्पन्न होता है जिसकी परिपक्वता में मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

**४. अमूढदृष्टि अंग :-** ज्ञान में मूढ़ता यानी अयथार्थता न हो उसे अमूढदृष्टि अंग कहते है। सम्यग्दृष्टि जीव को अपने निर्मल - शुद्ध ज्ञायक स्वभाव मे निरंतर अभेदभाव वर्तता है जिसके कारण उन्हें स्व-पर पदार्थ विषयक अयथार्थता नहीं होती। सम्यग्ज्ञान में वे उन सभी पदार्थों को यथास्थित जानते हैं। और वैसे में स्वपदार्थ निजरूप से जानने में / अनुभव में आता है अतएव समस्त अन्य द्रव्य-भाव में कहीं भी निजत्व नहीं होता।

अनादि से उदयगत पदार्थों (-कुटुम्ब शरीरादि सर्व संयोगों) में भ्रान्तयुक्तता के कारण निजत्व होता था, उसका सम्यक्त्व होने पर अभाव हो जाने से और मात्र ज्ञाताभावरूप परिणमन वर्तता होने से ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह विलय हो जाने के कारण उनकी किसी भी पदार्थ के प्रति अयथार्थ दृष्टि नहीं होती।

चारित्रमोह के कारण ज्ञानी के क्वचित्-अल्प रागादि परिणाम होते हैं तथापि वे उसके भी ज्ञाता रहते हैं। इस भाँति निर्मल दृष्टि के कारण उन्हें कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होता।

मोक्षमार्गी धर्मात्मा को अपने कार्यक्षेत्र की मर्यादा-पर्याय की व्यापकता तक ही-अनुभव मे आती है; जिससे परपदार्थ के कार्य की कर्तृत्वरूप मूढता नहीं होती। तदुपरांत स्वभाव के



द्वारा विभाव को करना / भोगना अशक्य जानने में आता है अतः रागादि विभाव को करने / भोगनेरूप मूढता नहीं होती। सम्यग्दृष्टि के ऐसा निर्मल परिणमन निरंतर वर्तता है।

व्यवहार से भी सम्यग्ज्ञानी के सम्यग्ज्ञान में चारों पहलुओं से यथार्थ जाननेरूप परिणमन वर्त रहा होने से उन्हें हेय-उपादेयरूप महा विवेक प्रवर्तता है। इसीलिये उनका कर्तव्य - अकर्तव्य विषयक निर्णय समीचीन होता है। न्याय-नीति आदि विषयों में भी उनका झुकाव सदैव निर्दोषता की ओर ही रहता है। इस भाँति लौकिक प्रवृत्ति में यथार्थता रहती है।

तथा शास्त्र के न्याय भी उनके ज्ञान में अंगपूर्वधारी की तरह यथार्थरूप से आते हैं। ज्ञानी अन्यमत के शास्त्र पढ़ते हैं तो भी वे उन्हें ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं, उसमें कहीं भी भ्रान्ति नहीं होती।

देव-शास्त्र-गुरु संबंधी अनेक बाह्य धार्मिक कार्यों के प्रसंगों में उनका निर्णय यथार्थ ही होता है। उनके ज्ञान में मोक्ष का स्वरूप भलीभाँति भास्यमान हुआ होने से-अटारह दोष रहित, पूर्ण वीतरागस्वरूप देव का स्वरूप जानने में-उन्हें कहीं भी विपरीतता नहीं होती।

उसी प्रकार उन्हें संवर-निर्जरा का स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होने से वे निर्ग्रन्थ गुरु और सत्पुरुष को पहचानते हैं इसलिये उन्हें गुरु तथा ज्ञानी के विषय में विपर्यास नहीं होता।

तथा, उसका ज्ञान सत्सिद्धांतप्ररूपक शास्त्रों के अवगाहन में सूक्ष्मरूप से प्रवर्तता है। और अपसिद्धांतप्ररूपक शास्त्रों के



अवलोकन करने पर भी उन्हें विपर्यास नहीं होता। अर्थात् सम्यग्ज्ञान में सुशास्त्र तथा कुशास्त्र का भेद यथार्थरूप से जानने में आ जाता है।

अमूढदृष्टि अंग धारी, निर्मल दृष्टि के धनी धर्मात्मा को निजपरमात्मस्वभाव के प्रति अनन्य प्रेम, रुचि और उपादेयता वर्तती होने से 'सब आगम-भेद सुउर बसै'-ऐसी दशा वर्तती है। स्वरूप के अभेदज्ञान की लब्धि में ज्ञान के व सिद्धांत के समस्त भेद गर्भितरूप से समाविष्ट होते हैं।-इस प्रकार ज्ञानी निश्चय-व्यवहाररूप अमूढदृष्टि अंग से सदैव शोभित होते हैं।

तदनुसार जिन के मति-श्रुतज्ञान में पूर्ण शुद्धता का उपादेयमयरूप लक्ष्य / ध्येय होने के कारण सुविचारणा प्रगट हुई है कि वह सुविचारणा विकसित होकर सम्यग्ज्ञानरूप परिणाम को प्राप्त होने योग्य है-वैसे आत्मार्थी-सुपात्रजीव को भूमिकानुसार ज्ञान की निर्मलता होती है। और इसी कारण उसकी विचारधारा में यथार्थता उत्पन्न होती है जिससे वह अवश्य आत्महित को साधेगा।

आत्मार्थी जीव देव, शास्त्र, गुरु और सत्पुरुष विषयक किसी भी प्रकार के प्रसंग में विवेकपूर्वक वर्तता है। यह क्षेत्र वर्तमान काल में प्रत्यक्ष वीतराग सर्वज्ञदेव के अभावरूप है तथा भावलिंगी निर्ग्रन्थ गुरु की विद्यमानता भी अभाववत् है। ऐसी परिस्थिति में मोक्षदाता सजीवनमूर्ति सत्पुरुष के प्रति उसे परम विनय, विवेक, प्रेमभक्ति होना वह इस भूमिका की यथार्थता का द्योतक है। ज्ञानीपुरुष के श्रवण किये गये आत्महितकारी बोध के प्रति



आत्मार्थी को परम प्रेम स्फुरायमान होता है यानी कि उस बोध की उपासना हेतु वह अत्यंत भक्ति से प्रयत्नवंत रहता है।-ऐसी अत्यंत भक्ति ही आत्मार्थी को सम्यक्त्व की पूर्व भूमिका रूप निर्मलता प्राप्त कराती है। इसी कारण वह आत्मार्थी-मुमुक्षुभूमिका में अयथार्थता के कारण-ऐसे अनेक प्रकार के संभवित दोषों से बच जाता है। साथ ही मति की यथार्थता को लेकर उसका ज्ञान प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत विषय में सूक्ष्म होकर कार्यसाधक होता है। अर्थात् वह अप्रयोजनभूत विषय के प्रति उदासीन होता है और अपने परम प्रयोजन के प्रति एक लक्ष्य से, एक ध्येय से, एक लय (धुन) से और उत्कटतापूर्वक उत्तरोत्तर उन्नत भाव की परिणामश्रेणि द्वारा आत्मश्रेय की दिशा में विकास करता है।

आत्मकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ने का अभिलाषी जीव, प्रायः मार्ग के क्रम को नहीं समझता। यह समझ का विपर्यास है अतः इसे दूर करना चाहिए।

ज्ञानी पुरुष के आत्मश्रेयपद्धतिसूचक वचनों में विधि की सूक्ष्मता-अंतर्मुख होने की सूक्ष्मता-सन्निहित रहती है; जिसका ग्रहण यथार्थतापूर्वक ही होने योग्य है।

आत्मार्थी जीव को गुण की रुचि के कारण असत्संग व कुसंग से दूर रहने की सावधानी वर्तनी चाहिए। ऐसा प्रकार पूर्व पर्यायरूप सम्यक्त्व का अंगभूत अमूढदृष्टिपना होने योग्य है।

समस्त प्रकार के विपर्यासरूप अंतराय निरस्त होने के पश्चात् ही आत्मस्वरूप का यथार्थ निर्णय / भावभासन होता



है। उसके पूर्व स्वच्छंदप्रवृत्ति (-सद्गुरु की आज्ञा विना धर्मप्रवृत्ति), लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा इत्यादिक महादोष तथा कषायरस व दर्शनमोहजन्य अत्यंत मूढता होनी - बगैरह प्रकार की भावमलिनता विगलित हो सो मति की निर्मलता होने का कारण है।

जीव अनंतकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। जीव ने परिभ्रमण करते करते, साधारण धर्मजिज्ञासा से अनंतबार जप, तप, व्रत, यम, नियम, संयम, त्याग, वैराग्य, शास्त्रज्ञान इत्यादिक साधन किये तिस पर भी परिभ्रमण का अभाव नहीं हुआ। इसके कारण का विचार किया जाये तो संक्षेप में यों बताया जा सकता है कि-यथार्थ विवेक का अभाव होने से तथा विपर्यासयुक्तता के कारण उक्त सर्व साधन निष्फल हुये हैं। अतएव यथार्थता कैसी हो यानी कि मार्गप्राप्ति में साधक ऐसा अमूढपना कैसा हो ? यह सत्संग योग में विनय, भक्ति, सरलतादि साधन सम्पन्न होकर विचार करने योग्य है, ग्रहण करने योग्य है और आराधन करने योग्य है।

इस भाँति मुमुक्षु की भूमिका में, सम्यग्दर्शन के अंगभूत अमूढदृष्टिपने की उक्त पूर्व भूमिका मुमुक्षु द्वारा उपासनीय है।

**५. उपगूहन (उपबृंहण) अंग :-** उपगूहन माने सम्यक् प्रकार से दोष को गौण करना। त्रिकाल निर्दोष, परिपूर्ण शुद्ध निज परमतत्त्व की मुख्यता मे वर्तमान दोष-भाव गौण होकर ज्ञान में ज्ञात होते हैं सो निश्चय से उपगूहन है। उपबृंहण माने अनंत सामर्थ्यवंत निज स्वभाव के अवलंबन से, पर्याय में आत्मशुद्धि की वृद्धि होनी। इस प्रकार धर्मात्मा, हर समय आत्मशुद्धि की वृद्धि करते रहते हैं। उनके परिणमन में निरंतर





ऐसा दोनों प्रकार से पुरुषार्थ वर्तता है।

दोष जीव का भावरूप है। दोष को जानना, उसके होने के मूल कारण को जानना और उसे मिटाने का उपाय करना इत्यादि चारों पहलुओं से गुरुप्रदत्त सूझ से जानकर, स्वरूपसम्मुख होने से स्वरूप की मुख्यता में दोष गौण होकर उनका क्रमशः अभाव होता है। यदि स्वरूप की मुख्यता बिना अपने दोष को गौण करने में आये तो स्वच्छंदरूपी महा दोष उपजता है। और वैसे में दोष को पोषण मिलता होने से अनेक प्रकार के अन्य दोष वृद्धिगत होने लगते हैं। इसीलिये सम्यक् प्रकार से दोष को गौण करने का शास्त्र में विधान है।

सम्यग्ज्ञान में दोष ज्ञात होनेपर, दोष के प्रति निषेध वर्तता है; अतएव दोष की वृद्धि न होती होने से उसका क्रमशः अभाव होता है। प्रवर्तमान दोष को हेयबुद्धि से जाननेपर वह ज्ञाता के दोष-भाव के रस को तोड़ता है जिससे उसका (दोष का) बल क्षीण होता है। साथ ही साथ निर्दोष स्वभाव के प्रति रस वृद्धिगत होने से, निर्दोषता प्रगट होने का सहज अवकाश बनता है।

-इस प्रकार अस्ति-नास्ति से उपगूहन अंग का निश्चयपरिणमन सम्यक्त्व के साथ अविनाभावीरूप से रहता है। वहाँ पुरुषार्थ की कमी के कारण जो अल्प-रसहीन होकर-दोष उत्पन्न होता है उसके वे ज्ञाता रहते हैं। ऐसा दोष-स्वरूप-अस्थिरतावश उत्पन्न होता है तो भी उनके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है। अभिप्राय में तो ज्ञानी को, पूरे उद्यम से, आत्मजागृतिपूर्वक शुद्धता के प्रति निरंतर पुरुषार्थ का परिणमन वर्तता है। जिसका मुख्य



कारण उन्हें निज अनंत सामर्थ्य का प्रत्यक्ष दर्शन वर्तता है, सो है।

व्यवहार से सम्यग्दृष्टि जीव अन्य जीवों के दोष-भाव को गौण करते हैं। यों होने में भी उनका दृष्टिकोण अन्य जीव के त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को मुख्य करना सो है। सम्यग्दृष्टि का दूसरा नाम द्रव्यदृष्टि है। अतएव सर्वत्र द्रव्य की ही मुख्यता प्रवर्तती है। तथा स्व-पर पदार्थ में पर्याय गौण हो जाती है।

ज्ञानीपुरुष अन्य धर्मात्मा के चारित्रमोहजनित दोष को जाननेपर उसे प्रसिद्ध नहीं करते, बल्कि छिपाते हैं। ऐसा करना, दोष का रक्षण या अनुमोदन है, यों समझना उचित नहीं; क्योंकि धर्मात्मा के वैसे दोष प्रगट करनेपर धर्म की अपकीर्ति होती है या लोक में धर्म की निंदा होकर धर्म का अवमूल्यन होता है अथवा सामान्य जनसमुदाय में धर्म और धर्मी के प्रति अश्रद्धा होने का प्रसंग बनता है। अतः जहाँ सम्यक्त्व जैसा महान् गुण प्रगट हुआ हो वहाँ रसकशून्य चारित्रमोह के अल्प दोष को गौण करना न्याययुक्त ही है। वास्तविकता तो यह है कि जहाँ मुमुक्षुमात्र के लिये धर्म और धर्मात्मा केवल भक्ति का स्थान है वहाँ अभक्ति का प्रकार, उक्त किसी कारण से, उत्पन्न हो जाये तो वह बड़ा भारी पारमार्थिक अहित का कारण बन जाता है। अतएव धर्मात्मा के दोष की अप्रसिद्धि में भी, मुमुक्षुजीवों के प्रति धर्मी की निष्कारण करुणा तथा उनकी धर्मनिष्ठा सन्निहित होती है। अतएव धर्मात्मा के दोष छिपाने, बचाव करने का धर्मी का तनिक-सा भी हेतु (अभिप्राय) नहीं होता; बल्कि वह उनका पारमार्थिक विवेक है; यों समझना

० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०  
 चाहिए।

तथा, दोष का छिपाव दो प्रकार से होता है-एक तो जिसके प्रति ममत्व के कारण पक्षपातबुद्धि होने से उसके दोष गौण होकर दिखाई ही नहीं देते; ऐसा प्रकार स्वयं तथा दोष करनेवाले-दोनों को अहित का कारण है। ऐसे अभिप्रायपूर्वक के परिणामन में दोषदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि पुष्ट होती है, बलवान होती है; तथा उसके कारण वह जीव गुण दृष्टि / स्वभावदृष्टि से विशेष दूर हो जाता है। ऐसा विपर्यास, स्वभाव के पुरुषार्थ को न उत्पन्न होने देने के अनेक कारणोंमें से एक मुख्य कारण है। अतएव ऐसे प्रकार में सावधान होकर उसे छोड़ना योग्य है। तथा दूसरा, उपर्युक्त प्रकार से स्व-पर गुणवृद्धि हेतु गुणदृष्टिवंत मोक्षमार्गी धर्मात्मा को होता है। वहाँ तो गुण की / स्वभाव की मुख्यता में स्व-पर के दोष गौण होते हैं; जो योग्य ही है।

तथा, समकिती जीव व्यवहार से मोक्षमार्ग की बाह्य प्रवृत्ति में युक्त होता है वह उपबृंहण अंग का व्यवहार है। विकल्प का ऐसा प्रकार मोक्षमार्ग में सहज ही होता है इसलिये वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु और सत्पुरुष संबंधी अनेकविध प्रवृत्तियाँ, वह स्वभाव की मुख्यता छोड़े बगैर, स्वभाव का आराधन करते-करते, सहजरूप से किया करता है।

ऐसे ही प्रकार को यथार्थरूप से अनुसरण करनेवाला मुमुक्षुजीव भी स्वभाव के निर्णयपूर्वक, स्वभाव के अवलंबन हेतु स्वभाव की मुख्यता करता है और पर्यायमात्र को गौण करनेरूप प्रयत्न में वर्तता है। उसके पूर्व प्रथम भूमिका में अपने दोष



मिटाने के दृष्टिकोण से उनका अवलोकन, निंदा, गहों, खेद इत्यादि प्रकार के परिणाम सहज होते हैं जिससे दर्शनमोहकृत भावमलिनता गलती है और उस भूमिका की ज्ञान में निर्मलता प्रगट होनेपर स्वभाव के भावभासन होने की योग्यता प्राप्त होती है।

ऐसे मुमुक्षुजीव के ज्ञान में जब अन्य जीव के दोष ज्ञात हों तब वह उन्हें गौण करने का प्रयत्न करता है। यदि वह अन्य के दोष को मुख्य करे तो उस जीव के प्रति उसे द्वेषभाव उत्पन्न होकर पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जाती है और आत्मा गौण हो जाती है; जिसके कारण 'सर्व आत्मा स्वरूप से भगवान आत्मा है', यह दृष्टिकोण छूट जाता है। इस तरह की यथार्थ समझपूर्वक आत्मार्थी जीव स्व-पर के दोषों का पक्षपात नहीं करता; प्रत्युत स्व-पर का हित साधन में आये ऐसी विचक्षणता से वर्तन करता है।

निश्चयधर्म प्राप्ति की भावनावाले आत्मार्थी जीव की व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति भी ज्ञानी की आज्ञाधीन स्वशक्तिप्रमाण होती है। तथा वह वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु और सत्पुरुष के प्रति स्वयं भक्ति करता है और उसे वर्द्धमान करता है। उसी भाँति वह अन्य जीवों के वैसे होने में अनुमोदना हेतु तन-मन-धन से समर्पण करता है। व्यवहारमोक्षमार्ग में जो जो व्यवहारप्रवृत्ति है उसमें पारमार्थिक हेतु को लक्ष्य में रखकर, वह उस प्रवृत्ति में वृद्धि करता है, करवाता है और अनुमोदता है; जिससे उसे निश्चयधर्म की मुख्यता नहीं छूटती और व्यवहारप्रवृत्ति भी यथासंभव यथास्थान पर सहज होती है। यदि



ऐसी यथार्थता न हो तो अनिवार्यतः उस भूमिका के व्यवहार में अयथार्थता अथवा विरुद्धता हो जाती है। और फलस्वरूप वह जीव निश्चयधर्म की प्राप्ति से अति दूर हो जाता है। इस प्रकरण में सिद्धांत यों है कि, यथास्थान में या गुणस्थान में यदि जीव व्यवहारधर्म से भी भ्रष्ट हो तो उस जीव के लिये निश्चयधर्म प्राप्त होने का विचार भी करने जैसा नहीं है। अतः मुमुक्षुजीव को मुमुक्षुयोग्य अपने व्यवहार धर्म के परिणाम को समझकर, जाँच कर और मिलान करना योग्य है।

**६. स्थितिकरण अंग :-** निज परमात्मस्वरूप का श्रद्धान-सम्यग्दर्शन; निज परमात्मपद के आलंबन से स्वसंवेदनरूप ज्ञान-आत्मज्ञान; तथा स्वरूप में स्थिरता-एकाग्रतारूपपरिणमन-स्वरूपाचरण-सम्यक् चारित्र;-इन तीनों की एकता व अविरुद्धतास्वरूप जो निश्चयमोक्षमार्ग; उसमें अपनी आत्मा को सुदृढ़ता से स्थापित करना 'स्थितिकरण' है। धर्मात्मा को उक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर रहने का पुरुषार्थ निरंतर वर्तता है। जिससे वे मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होते। उनका ऐसा पुरुषार्थयुक्त निश्चयपरिणमन सहज होने से मार्गभ्रष्ट होकर उन्मार्गपर जाना बन सकता ही नहीं है।

व्यवहार से समकित्ती जीव स्वयं के परिणमन में मोक्षमार्गोचित सहज परिणाम से परिणमता है। तथापि व्यवहारधर्म की मर्यादा छोड़कर परिणमन नहीं करता। उनका ऐसा मर्यादित परिणमन, शुद्धतावश-सहजरूप से अशुद्धिका नाश हो जाने से-वर्तता है। यद्यपि व्यवहार परिणाम वास्तव में अशुद्धि का अंश है, जिससे उसमें नीरसता / सूखापन हो जाता है। तथापि उन्हें अशुद्धअंश



में भी वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु और अन्य सत्पुरुष प्रति के भाव में कहीं भी विरुद्धता नहीं होती।

धर्मात्मा, अन्य आत्मा को भी निश्चयमोक्षमार्ग या व्यवहारमोक्षमार्ग से च्युत होता जाने तो उसका स्थितिकरण करते हैं। अर्थात् उसे उन्मार्ग पर जाने से बचाते हैं। उनका किसी भी जीव के प्रति मात्सर्यभाव नहीं होता। अतएव जानबूझकर के उसे उन्मार्ग पर जाने से न रोके यानी कि उन्मार्ग प्रति के अन्य के परिणाम का निषेध न करें ऐसा प्रकार उनके नहीं होता, नहीं बनता।

आत्मार्थीजीव को भी स्व-पर को आत्मा को सत्यमार्ग में स्थापित करने की भावना होती है जो विकसीत होकर, सम्यक्दशा प्राप्त होने पर स्थितिकरण अंगरूप से, सम्यक्त्व की अंगभूत होकर परिणमित हो जाती है। वह जीव स्वयं पात्रता प्रगट करके, गुरुप्रदत्त सूझ से सद्बोध ग्रहण कर के स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है; साथ ही साथ अन्य साधर्मी / मार्गच्छावान जीवों को भी तथाविध प्रयोजन साधने में यथाशक्ति अपना समर्पण करता है। आत्मार्थी जीव कभी भी किसी भी अन्य जीव जो कि धर्मप्राप्ति, धर्मायतन की प्राप्ति या धर्मसाधन की प्राप्ति के समीप आये तो उसमें अंतराय पड़े जैसे परिणाम नहीं करता, या नहीं करवाता या अनुमोदन करने में खड़ा नहीं रहता। इस प्रकार से सम्यक्त्व पहले की भूमिका में स्थितिकरण के अनुरूप / सुसंगत परिणामन होता है जो वृद्धिगत होकर सम्यक्त्व के काल में स्थिकरण अंग को प्राप्त होता है। अतएव यों फलित होता है कि उक्त प्रकार से विसंगत



प्रकार के विपर्यासरूप परिणामवाले जीव को सम्यक्त्व की समीपता नहीं होती बल्कि विपर्यास के कारण वह सम्यक्त्व से दूर हो जाता है।

उपर्युक्त स्थितिकरण अंग के विषय में यथार्थ समझ कर के मुमुक्षुजीव को निज प्रयोजन में अत्यंत सावधानी से प्रवर्तन करना योग्य है।

**७. वात्सल्य अंग :-** वात्सल्य शब्द का अर्थ स्नेह या प्रेम होता है। आत्मा स्वयं प्रेममूर्ति यानी वात्सल्यता की मूर्ति है; जिससे आत्मरुचिरूप सम्यग्दर्शन स्वयं वात्सल्य स्वरूप है। इसलिये सम्यग्दर्शन के अन्य अनेक अंगों में वात्सल्य एक मुख्य अंग है। स्वभाव की रुचि यानीकि अनंत गुणनिधान की रुचि यह निश्चयवात्सल्य है। इस कारण से मोक्षमार्ग के अवयवभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-पुरुषार्थ आदि सर्व गुण प्रगट होते हैं। आत्मा के सर्व गुणों के शुद्ध परिणाम, व्याप्य-व्यापकभाव से, एक गुणवंत आत्मा की ही सेवना करते हैं। इस प्रकार से सर्व गुणों के परिणाम द्वारा सेवनीय-आराध्य ऐसा जो निज परमपद; उसकी सेवा करनेवाले सर्व भावों में वात्सल्य का रूप दर्शनीय है।

ऐसे निश्चयवात्सल्यपूर्वक अन्य साधर्मों के प्रति, तथा जिसे आत्मगुण प्रगट हुये हैं ऐसे साधक धर्मात्मा के प्रति, गुणप्रमोदवश, प्रीति होनी सो व्यवहारवात्सल्य है। जिन्हें गुण की / धर्म की रुचि, प्रीति होती है उन्हें नियम से धर्म में प्रवर्तन करनेवाले सर्व धर्मात्माओं के प्रति सहज भाव से प्रीति होती ही है; अन्य गुणवान के प्रति कभी भी मात्सर्यभाव होता ही नहीं। मात्सर्यभाव



उत्पन्न न होने का सबसे बलवान कारण 'वात्सल्यभाव' है। जिस प्रकार माता का पुत्र के प्रति नैसर्गिक वात्सल्य होता है उसी तरह धर्मी का अन्य धर्मी के प्रति अन्य धर्मच्छावान के प्रति सहज ही वात्सल्य होता है। इस प्रकार के परिणाम वास्तव में स्व आत्महित के प्रति विशेष अनुराग के द्योतक हैं।

कभी किसी धर्मात्मा पर या धर्मायतनस्वरूप देव-शास्त्र- गुरुपर कोई उपसर्ग आये तो धर्मीजीव, वात्सल्यभावनावश, उसका अपनी पूरी शक्ति से प्रतिकार करता ही है। वह उसका यथोचित प्रतिकार, अपनी प्रवर्तमान भूमिकानुसार किये बगैर शांति से नहीं बैठता। जैसे क्या गाय, अपने बच्चे पर कोई सिंह झपटे तब उसके रक्षण हेतु बगैर प्रयत्न किये रह सकती है ? वैसे समय में गाय अवश्य समझती है कि वह सिंह पर विजय पाने में शक्तिमान नहीं है तथापि वात्सल्यभाववश अपने बलिदान हेतु तत्पर हो जाती है। इस प्रकार के परिणाम तिर्यचकोटि के जीवों को भी प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। तब फिर धर्म के प्रति धर्मात्मा को उससे अनंत गुने और अलौकिक प्रकार के विवेकयुक्त परिणाम होवे ही; वह तथ्य सहज समझ में आये ऐसा है। यथार्थ मुमुक्षुजीव को तथा धर्मीजीव को अपने कुटुम्बिक जनों के प्रति, अपनी भूमिकानुसार जो अनुराग होता है। उसकी तुलना में, निःसंदेहरूप से साधर्मी और धर्मात्माओं के प्रति विशेष अनुराग होता ही है।

तदनुसार जिन्हें यथार्थरूप से आत्मार्थिता प्रगट हुई है, जिन्हें गुणरुचि व प्रीति वर्तती है उन्हें तो स्वकुटुम्बिजनों से





भी अधिक प्रीति, धर्म और धर्मात्माओं के प्रति होती ही है। यद्यपि आत्मार्थी की भूमिका में भी उदयगत कौटुम्बिक कार्य जंजालवत् लगते हैं जिससे उन कार्यों में प्रवर्तन करनेपर अत्यन्त अरुचि हो आती है। और वैसे उदयप्रसंग में वह लाभ का या सुख का कारण जानकर प्रवृत्ति नहीं करता। मात्र प्रारब्धवशात् करनी पड़ती प्रवृत्ति में उसे उत्साह नहीं आता। बल्कि उसे तो सत्संग, धर्मकार्य और धर्मात्मा के प्रति अत्यंत प्रीति, भक्ति और अनन्य प्रेम वर्तता है।

काल की अति विषमता के कारण, सांप्रत जैनसमाज में धर्मप्राप्ति की वृत्ति क्षीण होती जा रही है जिससे धर्मस्थान व धार्मिक संस्थाओं में भी क्लेश व वैर-विरोध का वातावरण व्याप्त है, ऐसा देखने में आता है। जिसका मुख्य कारण परस्पर में वात्सल्यता का अभाव है। जहाँ वात्सल्य का अभाव हो वहाँ ईर्ष्या का जन्म हुये बगैर रहे ही नहीं। अतः वात्सल्य गुण के प्रति विशेष प्रकार से ध्यान देना योग्य है जिससे कि जैनसमाज की ताकत को टूटने से बचाया जा सके। समाज के हर स्तर पर जैनियों को यह बात विशेषरूप से विचार ने जैसी है। यदि वात्सल्य के विषय को निश्चय और व्यवहार में यथार्थरूप से समझा जाये, प्रचारित किया जाये तो जैनधर्म की अवनति होती अटके और उन्नति हो, तथा अनेक अनिष्टों से व विपत्तियों से रक्षा हो सके।

**८. प्रभावना अंग :-** सम्यग्दृष्टि को अपने ज्ञायकस्वभावमयता के कारण, स्वरूप की भावना में, शुद्धपरिणमन वृद्धिगत होता है। इस प्रकार की उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती स्वरूपाकार



परिणामश्रेणि को विशेष भावना अथवा प्रभावना कहने में आती है। धर्मात्मा, सम्यग्ज्ञानरूपी रथ में आरूढ होकर के / आत्मा को स्थापित करके मोक्षमार्ग में विचरण करते हैं; और धर्मदशा के विकास हेतु सहज पुरुषार्थशील रहते हैं; यही सच्ची धर्म-प्रभावना है। स्वयं की दशा में धर्मप्रभावना के सद्भाव बगैर अन्य कोई बाह्य क्रिया से यानी कि जप, तप, यात्रा, पूजा, भक्ति, गजरथ, शास्त्रस्वध्याय या दानादि से, जिनेश्वर के मार्ग की वास्तविक प्रभावना हो नहीं सकती; कारण कि बाह्य प्रभावना का व्यवहार निश्चयप्रभावनापूर्वक ही हो सकता है। सिद्धांत में भी निश्चयपूर्वक ही उत्पन्न हुये व्यवहार को व्यवहाररूप से सम्मत करने में आया है अतएव धर्मात्मा ही वास्तव में प्रभावना हेतु अधिकारी हैं, अथवा उनकी आज्ञा का आश्रयवंत / आज्ञाधीन वर्तता मुमुक्षु ही प्रभावना के लिये अधिकारी होता है। प. कृपालुदेव श्रीमद्राजचंद्रजी फरमाते हैं कि, 'मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति दो की होती है। एक आत्मज्ञानी की और एक आत्मज्ञानी के आश्रयवान की'-(पत्रांक : ५५१)। मुमुक्षु को प्रत्यक्ष ज्ञानी विद्यमान हों तब उनकी आज्ञा में रहकर धर्म-प्रवृत्ति करनी उचित है अन्यथा धर्म-प्रवृत्ति करने पर उसमें अनेक तरह से दोष होने की संभावना है।

जिन्होंने अपनी पर्याय में धर्म प्रगट करके धर्मप्रभावना की है ऐसे समकितीजीव अन्तर-बाह्य प्रभावना करनेवाले हैं। उन्हें अंतर में सम्यग्ज्ञान विकसित होता जाता है और साथ ही साथ वे व्यवहारप्रभावना के अनेक कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार वे जैनधर्म का / जिनेश्वर के मार्ग का अंतर-बाह्य उद्योत



करते हैं। जैनधर्म का प्रत्येक व्यवहार परमार्थ हेतुभूत होता है। ज्ञानीपुरुष ही व्यवहार के सर्व कार्यों में परमार्थ प्राप्ति का आशय जिस भाँति पोषित हो उसे जानते हैं। परंतु वैसे आशय को अज्ञानी-शास्त्रपाठी जीव वास्तव में नहीं जानते; क्योंकि वे अंतरंग रहस्य से अनभिज्ञ होते हैं; अतएव, उनके द्वारा वास्तविक धर्म की प्रभावना नहीं होती, हो भी नहीं सकती। सिद्धांत भी यों है कि 'मार्ग प्राप्त किया हुआ ही मार्ग प्राप्त करा सकता है।' यही वस्तुस्थिति है। जिसने अतर्मुख होने का मार्ग / विधि को जाना ही नहीं, वैसा अनजान जीव, उसके बारे में अन्य को किस भाँति बतला सके ? इसीलिये देशनालब्धि का सिद्धांत है कि, ज्ञानी सिवा अन्य से देशनालब्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः जिनोक्त तत्त्व की प्रभावना-प्रचार आदि आत्मज्ञानशून्य जीव, ज्ञानी के आश्रय बगैर, वास्तव में नहीं कर सकता। अथवा ऐसी नासमझदशा में उन कार्यों के करने पर अनजाने में वह आत्मा का अहित हो वैसे प्रकार की प्रवृत्ति करने में जुट जाता है और आत्महित करना चूक जाता है। प्रभावना के बाह्यकार्यों में शुभयोग व उपयोग की प्रधानता होती है अतएव जो शुद्धोपयोगरूप निश्चय जैनधर्म से अनभिज्ञ हैं वे बाह्य शुभप्रवृत्ति को ही कर्तव्य जानकर वैसे बाह्य कार्यों में रत रहते हैं।

इसीलिये भगवंतकुंदकुंदाचार्य ने 'समयसार' गाथा-१५ में शुद्ध उपयोगवंत को ही समस्त 'जिनशासन' कहा है। प्रभावना के सभी कार्यों में अंतरस्वरूपदृष्टि की प्रधानता तथा महत्त्व सम्मत करने योग्य है। उदाहरणार्थः श्री जिनबिंब को रथ में बिराजमान करके नगर में घुमाने में आता है उसमें ऐसा



पारमार्थिक संकेत निहित है कि-धर्मात्मा, सम्यग्ज्ञानरूपी रथ में आत्मा का स्थापन करके मोक्षमार्ग में भ्रमण करते हैं और धर्मप्रभावना करते हैं। श्री 'समयसार' गाथा-२३६ में कहा है कि : 'चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ घूमता। जिनराज-ज्ञानप्रभावकर सम्यक्त्व दृष्टि जानना।'

निश्चय-व्यवहार प्रभावना के उपर्युक्त स्वरूप को समझनेवाला आत्मार्थी भी निश्चयप्रभावना प्रगट करने के अंतरपुरुषार्थ में जुटता है और जीवन में इसीकी प्रधानता रखता है। यदि ऐसी मुख्यता न रखने में आये तो बाह्यप्रवृत्ति में संतुलन नहीं रह सकता है। अतः मुमुक्षुजीव बाह्य धर्मप्रवृत्ति में ज्ञानीपुरुष की आज्ञाधीन रहकर अनुसरण करता है। आत्मकल्याण की मुख्यता व ज्ञानी की आज्ञा, यों अंतर-बाह्य प्रवृत्ति को ध्रुवतुला हो तो प्रभावना के कार्य में यथोचित विकास सुलभता से होना संभवित है; अन्यथा प्रयोजनभूत बाबत में किसी न किसी जगह भूल होने की संभावना है। ऐसा जानकर, आत्मार्थी जीव को प्रभावना के कार्य में सावधानी से प्रवर्तन करना उचित है।

-एतदर्थ, महान अष्टांग विभूषित ऐसा जो सम्यग्दर्शन; उसके उक्त आठों अंगों के स्वरूप को समीचीन रूप से समझकर, पहचानकर, तदनुसार आचरण करना चाहिए।-इति।

ॐ शांति



## सरलता

मुमुक्षुभूमिका में आत्महित के प्रयोजन हेतु 'सरलता' अत्यंत महत्त्व का गुण है। सरलता उत्पन्न होने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न ही नहीं होते हैं। सरलता, अन्य अनेक गुण उत्पन्न होने का मुख्य कारण है। सरलता न होने से आत्महित की दिशा में बड़ा भारी अवरोध रहता है; यानी कि असरलता आत्मगुण-रोधक है। वास्तव में तो सरलता बगैर की मुमुक्षुता, शून्यवत् ही होती है।

सरलता के कारण व्यवहार और परमार्थ में अनेक प्रकार से लाभ होता है। तथा असरलता के कारण अनेक प्रकार से व्यवहार और परमार्थ में नुकसान होता है। जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से विचारणीय है:-

❁ सरलता से मध्यस्थता और विशालता प्राप्त होती है। जिससे सरल परिणामी जीव, किसी भी प्रसंग में अनुचितरूप से पक्षपाती नहीं होता। तथा यथार्थ विचारशक्ति के कारण, वह, मध्यस्थ भाव से रहकर, विपर्याय से बच जाता है। उसी प्रकार 'सत्' के स्वीकार करने में संकुचितता के कारण होनेवाले नुकसान से भी वह बच जाता है। विशालबुद्धि और मध्यस्थता, ये सरलता से उत्पन्न हुये गुण हैं।



❖ चार गति में सबसे अधिक जीवों की संख्या तिर्यक् गति में है। उसका कारण जीव के तिर्यक्-तिरछे, आड़े, वक्र, असरल-परिणामों का वह प्रगट फल है। जब कि मनुष्य गति में जीवों की संख्या सब से कम होती है। तीनों काल में संख्या का ऐसा परिमाण यों सूचित करता है कि, परिभ्रमण करते जीव में सरल परिणाम से मनुष्यत्व प्राप्त करे उनका प्रमाण अति अल्प है। मनुष्यत्व की दुर्लभता देखकर 'सरलता' उपासनीय है।

❖ निर्दोष व पवित्र दशा प्राप्ति के अभिलाषी जीव को, सर्वप्रथम स्वच्छंदरूपी महादोष की हानि हेतु, स्वयं के दोषों का अवलोकन करना आवश्यक है। ऐसा निष्पक्ष अवलोकन, सरल परिणामी जीव ही कर सकता है। स्वदोष को मिटाने का यह एक रामबाण इलाज है। परन्तु वह सरलता बगैर साध्य नहीं है।

❖ सुगमता से स्वच्छंदरूपी अंधत्व से दूर होना हो, उस जीव की मति सरल होने से, वह ज्ञानी की आज्ञा से चलने की योग्यता प्राप्त करता है। यह ज्ञानदशा प्राप्ति का अद्भुत उपाय है। सरल परिणामी जीव को ज्ञानीपुरुष की आज्ञा के लिये तत्परता होती है। जिससे उसे ज्ञानीपुरुष के बोध को अवधारण करने की क्षमता प्राप्त होती है। अनेक शास्त्रों के अध्ययन और बहुत सी बाह्यक्रियाओं से जो लाभ नहीं होता वह लाभ, सरल परिणामी मुमुक्षु को ज्ञानी के मार्गपर चलने के दृढ़ निश्चय से होता है।

❖ जीवन में एकमात्र आत्महित का लक्ष निर्धार करना,



परमार्थ प्रत्ययी सरलता है। ऐसी पारमार्थिक सरलता का महत् फल है। इस प्रकार की सरलता, अनेक प्रकार के उच्च कोटि के परिणामश्रेणि का कारण बनती है और अंततः मोक्षमार्ग की प्राप्तिपूर्वक पूर्ण पद की प्राप्ति पर्यंत पहुँचाती है।

❖ आत्मार्थी जीव में सरलता प्राप्त होने के कारण, श्रीगुरु के चाहे जैसे वचनो में उसे विश्वास रहता है और कहीं तनिक-सी भी शंका नहीं पड़ती। अतएव यों फलित होता है कि : सत्पुरुष के वचन में शंका हो वैसी अयोग्यता, असरलता की द्योतक है।

❖ परिणाम की सरलता के कारण एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता प्राप्त होती है जिससे कि, जीव सत्पुरुष के आशय को ग्रहण करने के लिये पात्र बनता है। ऐसी योग्यता बगैर अनेक उत्कृष्ट निमित्तों का योग मिलने पर भी 'आशय ग्रहण न होने से' जीव आत्महित से वंचित रहा है। यह परिस्थिति दर्शाती है कि असरलता से कितना बड़ा नुकसान है।

❖ जो जीव पक्षपातरहित होकर अपने दोष का अवलोकन करके, निषेध न करे तो उसे अपने दोष का जाने - अनजाने में बचाव होता है; तथा ऐसे प्रकार में उसे अपने दोष का गुप्त अनुमोदन वर्तता है जिससे दोष का अभाव हो नहीं सकता।

परंतु जो जीव सरलतापूर्वक मध्यस्थता से अपने दोष को देखता है उसे दोष के गुप्त अनुमोदन का अभाव होता है अतएव वह दोषभाव निराधार होकर, रस और शक्तिहीन होकर नाश हो जाता है। मुमुक्षु की भूमिका के सर्व प्रकार के दोष का नाश करने के लिये 'सरलता' सर्वोपरि शस्त्र है।



❖ सरलता से विरुद्ध असरलता के परिणाम, जीवों को अनेक प्रकार से उत्पन्न होते हैं, उनका स्वरूप भी समझने योग्य है। वक्रता, वचन और हावभावपूर्वक होनेवाली कृत्रिमता, दंभ, कुटिलता, माया, छल, कपट, हठाग्रह और जिद के परिणाम असरलता के द्योतक है। अतएव आत्मारथी जीव को इन्हें अहितकारी जानकर त्याग ने योग्य है।

❖ असरलता का मूल पर्यायबुद्धि है। जिससे जीव के सर्व प्रकार के दोष अंकुरित हो जाते हैं। अतएव सर्वप्रकार के उद्यम से पर्यायबुद्धि को निरस्त करना योग्य है। त्रिकाली भगवान आत्मा की अधिकता चूक करके, वह महिमावंत होनेपर भी उसकी महिमा का लक्ष्य छोड़ करके, शुभाशुभ उदय को या एक समय की पर्याय को महत्त्व देकर उसका आश्रय करना, सो परमार्थ प्रत्ययी असरलता है।

❖ श्री जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार श्रीगुरु द्वारा-सत्-श्रवण की प्राप्ति होती है। तथापि जीव जिनआज्ञापर पैर रखकर चलता है अर्थात् उपयोग नहीं रखता, आज्ञा की अवगणना करता है, वैसे में सरलता कहाँ रही ?

❖ सत्शास्त्र में प्रयोजनवश निश्चय और व्यवहार में कथन करने की पद्धति है। उदाहरणार्थ : 'राग का कर्ता जीव नहीं, बल्कि पुद्गल है' तथा 'राग का कर्ता जीव है'-ये दोनों आगम-वचन हैं, और दोनों में आशय की अविरोद्धता है; जो सरल परिणामी जीव को सहजरूप से साधने में आती है। वह यथार्थरूप से दोनों वचनों को मुख्य-गौणतापूर्वकग्रहण करता है। परंतु मति की वक्रता के कारण जीव को विरोध भासित होता है। जिससे





आत्महित साधने में आ नहीं सकता। जब कि सरल परिणामी जीव को ऐसा निश्चय वर्तता है कि : ज्ञानीपुरुष के वचन हमेशा पूर्वापर अविरुद्ध ही होते हैं।

❁ सत्संग की उपासना तथा सत्शास्त्रों का अध्ययन सरल परिणामों से करने की श्री जिनाज्ञा है। और तब ही सत्य का ग्रहण अथवा तत्त्व का ग्रहण सुलभता से होता है तथा जीव गुणग्राही बनता है।

अनंतकाल में, अनंतबार सत्पुरुष का योग मिला होनेपर भी उनकी पहचान नहीं होने के अनेक कारणों में मुख्य कारण, जीव की असरलता है। ओघसंज्ञा से ज्ञानीपुरुष की भक्ति और बहुमान करनेपर भी वंचनाबुद्धि रह जाती है उसमें सरलता की ही न्यूनता है, यो समझने योग्य है।

❁ चारों अनुयोगों में / जिनवाणी में अनुयोग अनुसार विषय व सिद्धांतों का प्रतिपादन है; तथापि सर्वत्र अध्यात्मतत्त्व प्रतिपादन करने का आशय रहा हुआ है। पारमार्थिक असरलता के कारण जीव को आगम और अध्यात्म में विरोध भासता है जिससे तात्पर्यरूप वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती है। आत्महित के आशय को मुख्य रख करके, आगम-सिद्धांतों का ज्ञान कर्तव्य है तथा अध्यात्म तत्त्व की मुख्यता और आदर करने योग्य है। उदाहरणार्थ: द्रव्यानुयोग के अनुसार एक पदार्थ की सत्ता में द्रव्य के प्रदेश और पर्याय के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं बल्कि एक ही है; तिसपर भी अध्यात्मतत्त्व-परमपद का आश्रय करवाने हेतु अध्यात्म के प्रकरण में श्रीगुरु का स्पष्ट उपदेश है कि : पर्याय के प्रदेश भिन्न हैं तथा द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं। वहाँ



पूर्वापर विरोध नहीं है। तथापि मति की असरलता के कारण विरोध भासित होता है जिससे आत्महित चूक जाता है।

❀ यह उपयोग की पारमार्थिक सरलता है कि अंतरंग में तिर्यक् / तिरछी गति नहीं करता यानी कि बगल में रहे हुये राग को वह स्पर्श नहीं करते हुए, सरल होकर, स्वयं को ग्रहण करता है।-ऐसी सरलता उपादेय है। यदि असरलता रहेगी तो वह अंतर्मुख होने में प्रतिबंधक है अतएव परम सरलता आदरणीय है।

संक्षेप में 'सरलता' स्व-पर कल्याणकारी है और 'असरलता' स्वयं के व अन्य के कल्याण में बाधक है।-ऐसा 'सरलता' का महत्त्व समझकर आत्महित साधना योग्य है।

ॐ शांति





## श्री जिनानेन्द्रदर्शन !

श्री जिनप्रतिमायें तीनों लोकों में अकृत्रिमरूप से अनादि से बिराजमान है। इसके पीछे कुदरत का हेतु, संसारीजीव को निजात्मदर्शन करवाना है। ऐसी कुदरत की अनूठी व्यवस्था है ! इसी हेतु से मोक्षमार्गी धर्मात्मा, श्री जिनानेन्द्रदेव की प्रतिकृतिरूप प्रतिमा बनवाकर उनकी श्री जिनमंदिर में विधिपूर्वक स्थापना करते हैं। धर्मात्माओं के द्वारा यह परंपरा भी अनादि से मोक्षमार्ग में प्रचलित है।

आत्मज्ञान हेतु वाणी द्वारा आत्मस्वरूप दर्शाने में आता है। एतदर्थ आत्मज्ञानी पुरुषों के द्वारा विरचित सर्व ग्रंथों में आत्मबोध का निरूपण करने में आया है, किया जाता है। परन्तु 'आत्मा' एक अरूपी पदार्थ है और उसका स्वरूप वचनातीत ही नहीं अपितु विकल्पातीत भी होने से उसे मात्र संकेतरूप से वाणी द्वारा दर्शाया जा सकता है। वास्तव में तो आत्मस्वरूप सिर्फ श्रवण-चिंतन का विषय नहीं है अपितु वह तो मात्र वेदन-अनुभवज्ञान-का विषय है। अतएव ऐसे आत्मस्वरूप के दिग्दर्शन हेतु श्री जिनप्रतिमा की स्थापना एक सर्वोत्तम प्रयोग है।

यह तथ्य तो सर्वमान्य है कि किसी भी विषय को कथन के द्वारा समझाने के बजाय यदि उसे प्रयोग के द्वारा समझाने



में आये तो वह भलीभाँति समझाया जा सकता है, समझा जा सकता है। और यह बात सर्व साधारण के व्यावहारिक जीवन में अनुभवगोचर है। विशेषकर विज्ञान के विषय में तो यह आम प्रचलित कार्यपद्धति है। कारण कि वैज्ञानिक विषय को केवल व्याख्या और पुस्तकों के माध्यम से समझाया जाना अशक्य है। उल्लेखनीय यह है कि भौतिकविज्ञान तो इंद्रियज्ञानगोचर स्थूल विषय होने पर भी उसे समझाने हेतु जब प्रयोगपद्धति अनिवार्य है तब आत्मज्ञान तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म और इंद्रियातीत 'आत्मस्वभाव' का विज्ञान है जिसे कि समझने / समझाने हेतु प्रयोगात्मकपद्धति के सिवा अन्य साधन की कल्पना निरर्थक ही है। अतः ऐसे आत्मस्वरूप को दर्शाने हेतु पूर्ण आत्मस्वरूपपरिणत साक्षात् परमात्मा या उनकी प्रतिकृति के दर्शन यानी कि श्री जिनेन्द्रदर्शन ही एक मात्र कार्यकारी प्रयोगात्मक पद्धति है। और इसी पद्धति की सिद्धि के द्वारा ही आत्मसिद्धि संप्राप्त होती है।

यद्यपि वर्तमान में जैनसंप्रदाय में श्री जिनेन्द्रदर्शन करने की रुढि तो अवश्य प्रचलित है तथापि उपर्युक्त पारमार्थिक महत्व से प्रायः अनभिज्ञ होने से उक्त प्रयोगात्मकपद्धतिपूर्वक भावात्मक दर्शन करने का या इस पद्धति के अभ्यास का भी अभाव दिखाई देता है जो एक शोचनीय विषय है।

आत्मस्वभाव एकांत शुद्ध, प्रत्यक्ष अनुभूतिस्वरूप है यानी कि आत्मा का स्वरूप ही अनंत स्वसंवेदनमय है। जो कि तेरहवें गुणस्थान में श्री अर्हत जिनेश्वरदेव को पूर्ण प्रगट होता है। प्रत्येक आत्मा, ऐसा अनंत स्वसंवेदन अपने निजात्मस्वभावमें



से प्रगट कर सके वह स्वाभाविक है। अतएव यदि यथार्थ प्रकार से श्री जिनेन्द्रदर्शन करने में आये तो, दर्शन करनेवाले के अपने विद्यमान स्वसंवेदनरूप ज्ञानवेदन के आविर्भाव हेतु श्री जिन प्रतिमा सर्वोपरी निमित्त है।

'वेदना' स्वयं एक ऐसा दृश्य है जो कि दर्शक को वेदना में सहज ले जाता है। उदाहरण के रूप में जब किसी प्राणी को तीव्र असातावेदनीय से पीडित देखने में आये तो देखनेवाले को असाता का अंश उत्पन्न हो आता है और उसके प्रति स्वाभाविक करुणा की उत्पत्ति हो आती है। ऐसा जीव का सहज स्वभाव है। ऐसी वैभाविक परिस्थिति सभी के अनुभवगोचर है। तब फिर प्रगट अनंत स्वसंवेदनमयी जिनमुद्रित जिनप्रतिमाजी के दर्शन करनेवाले के स्वसंवेदन का आविर्भाव होना वह एक सहज स्थिति है। अतः अति सुगमता से स्वसंवेदन के आविर्भाव हेतु यदि तथारूप यथार्थ दृष्टिकोण (-प्रयोगात्मकपद्धति) को साधने में आये तो वह अत्यंत उपकारी सिद्ध होए, ऐसा है।

उसी प्रकार श्री जिनमुद्रा में अनंत शांति का वेदन भी प्रसिद्ध है जो बगैर बोले ही आत्मशांति को दर्शाती है। इसीलिये ओघसंज्ञा से भी जिन दर्शन करनेपर दर्शक को मानसिक शांति मिले बिना नहीं रहती। तो फिर जो ज्ञानीपुरुष आत्मशांति के ज्ञाता हैं उन्हें तो अनंत सुधामय शांतिस्वरूप श्री जिनमुद्रा के दर्शन करने पर, उनका स्वयंभू परिणमन शांतस्वभाव में विशेषरूप से ढल जाये उसमें भाल आश्चर्य क्या है ? ! अतएव श्री जिनप्रतिमा की स्थापना, जिन्हें आत्मस्वभाव का ज्ञान नहीं उन्हे आत्मज्ञान का तथा आत्मज्ञानीपुरुषों को वह आत्मध्यान



का कारण है।

यद्यपि तत्त्वज्ञान का अभ्यास करनेवाले जीवों को अनेक स्तर से अध्यात्म का विषय बुद्धिगम्य होता है। उससे उन्हें यह भी स्पष्ट समझने में आता है कि 'अंतर्मुख होने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अंतर्मुखी परिणाम से वीतरागी धर्म समुत्पन्न होता है।' तिस पर भी 'अंतर्मुख किस प्रकार होना' उसकी यथार्थ विधि, उन्हें अपने से प्राप्त हो नहीं पाती तथा ऐसी ही कोई वस्तुस्थिति होने के कारण उनके लिये वह एक समस्या बन पड़ती है। तब ऐसे में यदि किसी के द्वारा 'अंतर्मुख होने का प्रयोग' दर्शाने में आये तो वह उनके लिये कितना उपकारी सिद्ध हो ? ?

'अंतर्मुख होना' यह एक सर्वोत्कृष्ट गूढ रहस्य है तथा 'अंतर्मुख होने की कला' अध्यात्मविद्या का एक रहस्यमय प्रकरण है।

श्री जिनमुद्रा का निरीक्षण करके उसके दर्शन करनेवाले को वह प्रगटरूप से निरवशेष अंतर्मुखता दर्शाती है। सर्वथा अंतर्मुख दशा के दर्शन करनेवाले के लिये 'अंतर्मुख होने की विधि-' को समझने का यह एक अनूठा प्रयोग है।

अतः अंतर्मुख होने की अनादि की समस्या को, अत्यंत सरलता व सुगमता से, हल करने के लिये श्री जिनप्रतीमा की अत्यंत महिमापूर्वक स्थापना करने की प्रणालिका है। जिसमें उक्त महत्त्वपूर्ण पारमार्थिक हेतु सन्निहित है। अतएव किसी भी प्रकारका छल पकड़कर जिनप्रतीमा की स्थापना का निषेध करने योग्य नहीं है।



स्व. पूज्य पंडित श्री दीपचंदजी कासलीवाल 'अनुभवप्रकाश' के 'देव अधिकार' में लिखते हैं कि 'क्योंकि देव से परम मंगलरूप निजानुभव प्राप्त करते हैं, इसलिए देव उपकारी हैं।' अतएव उनकी पूज्यता है। 'जिनस्थापना से सालम्बध्यान द्वारा निरालम्बपद प्राप्त करता है।' इसीभाँति श्री 'योगसार' में भी कहा है कि 'जिन समरो, जिन चिंतवो, जिन ध्यावो मन शुद्धः ते ध्यातां क्षण एकमां, लहो परमपद शुद्ध' १९.

तात्पर्य यह है कि स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्रा को देखकर स्वसंवेदनभावरूप अपने स्वरूप को अवलोकन में लेवे। तब फिर उसमें एकाग्रता द्वारा दर्शक भव्यों के अनंत तेजोमय निजस्वरूप का प्रकाशन होता है। आत्मस्वभाव में जो अनंत सहज प्रत्यक्षता का तेज सामर्थ्यरूप से भार हुआ है जिसकी अभिव्यक्तिरूप केवलज्ञान की अनंत प्रत्यक्षता श्री जिनमुद्रा में प्रसिद्ध है।

उल्लेखनीय है कि परोक्षज्ञान में उक्त प्रत्यक्षता का विचार करने से या आत्मस्वरूप के प्रतिपादक ग्रंथों के पठन द्वारा या अन्य किसी प्रक्रिया से उसका यथावस्थितरूप से आविर्भाव होना असंभव है। क्योंकि उक्त सभी प्रक्रियाओं में परोक्षज्ञान की ही प्रवृत्ति है और अनादि से जीव परोक्षज्ञान से परिचित है व ज्ञान की प्रत्यक्षता से अनभिज्ञ है ऐसे में इस अज्ञात विषय का ज्ञान श्री जिनमुद्रा द्वारा होता है।

इस भाँति श्री जिनबिंब, संसार में जीव के उपजे हुये मोहरूपी प्रचंड दावानल को शांत करने के लिए मेघवृष्टि के समान है। तथा अनादि घोर अज्ञान-तिमिर के नाश हेतु सूर्य के प्रबल प्रकाश सदृश है। अतः ज्ञानियों का फरमान है कि



वीतरागमूर्ति की उपासना अवश्य ही करने योग्य है।

इस विषय में पूज्य श्री दीपचंदजी लिखते हैं कि 'इस स्थापना के निमित्त से तीन काल, तीन लोक में भव्यजीव धर्म साधते हैं, इससे स्थापना परम पूज्य है। द्रव्यजिन द्रव्यजीव (है) वह भी भावपूज्य है। इससे भावीनय से पूज्य है।'

अंत में उक्त प्रकार से जिनेन्द्रदर्शन की विधि को संप्राप्त करके दर्शन करनेपर स्वसंवेदनभाव, आत्मशांति का वेदन, अंतर्मुखता और ज्ञान की प्रत्यक्षता प्रयोगात्मकपद्धति से समझ में आती है। अतः ऐसे प्रकार से दर्शन करना योग्य है जिससे कि निजानुभव प्राप्त हो। वास्तव में जिनदर्शन निजदर्शन है। श्री जिनेन्द्र के दर्शन करने पर भावजिन द्वारा वैसा ही अपना स्वरूप ज्ञान में आविर्भाव होता है।... इति

ॐ शांति







## आत्म-उन्नति का प्रशस्त क्रम

हरसंप्रदाय में रूढिगत धार्मिक अनुष्ठान होते रहते हैं। जिनका अनुसरण आत्मश्रेय इच्छुक मनुष्य प्रायः करते हैं। तथापि उससे आत्मश्रेय नहीं होता। कारण कि उन्हें आत्मकल्याण की इच्छा-जिज्ञासा मात्र ऊपर ऊपर की होती है। परन्तु जिन्हें अंतर की गहराई में से आत्मकल्याण की भावना प्रगट होती है वे जीव सत् की शोधक वृत्तिवाले होते हैं। जिससे वे सन्मार्ग पर आ जाते हैं। इस विषय में ज्ञानी पुरुषों ने गहन विचार करके एक महत्त्व के विषय पर प्रकाश डाला है और वह विषय कार्य-पद्धति के क्रम संबंधित है।

जिस धार्मिकक्षेत्र में मुख्यतः तत्त्वज्ञान के अभ्यासपूर्वक तत्त्वज्ञान के सूक्ष्म विषयों का अभ्यास किया जाता है वहाँ भी साधना के क्रम के ऊपर नहींवत् ध्यान देने में आता है। कहीं कहीं क्रम-संबंधित कार्यपद्धति व्यवस्थित की गई होती है वहाँ भी मोक्षमार्ग के अनुभवी पुरुष जिस क्रम से आत्मसाधना कर गये हैं, वैसा क्रम दिखाई नहीं पड़ता। यानी कि साधना का क्रम प्रायः कल्पितरूप से व्यवस्थित करने में आता है। अतएव जैसे में क्रमविपर्यास के मुख्य दोष के कारण मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती और जो कुछ साधना के नाम पर परिश्रम



किया हो वह निष्फल जाता है।

अनेक सत्पुरुषों ने साधना के क्रम पर गहन विचार किया है और अपने अनुभवपर से उस क्रम का बोध अनेक प्रकार से किया है; इतना ही नहीं प्रत्युत अन्य जीवों के कल्याण के लिये क्रम-विपर्यास के महा दोष को टालने हेतु क्रमपर बहुत भार देकर उस और मुमुक्षु जीवों का ध्यान खिंचा है।

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के अनेक वचनामृत इस विषय के उदाहरणस्वरूप हैं। जैसे कि, पत्रांक-८३ में तत्त्वज्ञान की गहरी गुफा में प्रवेश करनेवाले जीव को अंतर की गहराईमें से (नेपथ्यमें से) सबसे पहले कैसे प्रश्न उद्भव होते हैं उनका वर्णन किया है। यथा :

❁ आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? क्यों आये हैं ? आपके पास यह सब क्या हैं ? आपको अपनी प्रतीति हैं ? आप विनाशी, अविनाशी अथवा कोई त्रिराशी है ? ऐसे अनेक प्रश्न अंतर की गहराईमें से उत्पन्न होने पर आत्मा इन प्रश्नों से घिर जाता है तब संयोगों की चिंता के अन्य विचारों के लिये बहुत ही थोड़ा अवकाश रहता है। और ऐसा होने से उदयभाव नीरस हो जाते हैं और उक्त प्रश्नों के समाधान हेतु विचार की भूमिका में अवकाश प्राप्त होता है। और इन विचारों से ही अंत में सिद्धि है यानी कि अनंतकाल की उलझन दूर होती है और जिस अविनाशी अव्याबाध सुख की इच्छा है, उसकी प्राप्ति होती है। किसी भी मुमुक्षुजीव को पूर्णता का लक्ष्य निर्धार हो उसके पूर्व की ऐसी भाव-भूमिका है। जिसका निर्देश इस पत्र में है।



अन्य पत्रांक १२८ में यों है कि : अनंतकाल के परिभ्रमण में जिन-जिन कारणों को लेकर जीव ने परिभ्रमण किया है उन-उन कारणों का स्मरण होता है। भूतकाल में परिभ्रमण करते हुए इस जीव को तीव्र राग, तीव्र द्वेष और तीव्र माया आदि कषायों के कारण अकथ्य दुःख भोगने पड़े हैं जिनका अंतर की गहराईमें से स्मरण होने पर-

❖ जीव को संसार के प्रति अत्यंत वैराग्य आता है तथा वैसा वैराग्य, संसार-परिभ्रमण से छूटकर सादिअनंत अव्याबाध समाधि-सुख-दशा-हेतु, अत्यंत दृढ़ इच्छापूर्वक, लक्ष्य निर्धार करने के लिये प्रेरित करता है। जब तक संसार की अशरणता और असारता नहीं लगती, नहीं भासित होती तब तक उक्त पूर्ण दशा का ध्येय / लक्ष्य सुनिश्चित नहीं होता।

तथा जब तद्रूप पूर्णता का लक्ष्य होता है तब से ही मुमुक्षुजीवन का मुमुक्षुतारूप यथार्थ प्रारंभ होता है। पूर्णता के लक्ष्यवाले मुमुक्षुजीव की दृढ़ता के पूर्व उसकी भाव-भूमिका कैसी हो ? जिसका तादृश चित्र इस पत्र में प्रारंभ के चार पैराग्राफ द्वारा प्रदर्शित हुआ है। और जिनका मुमुक्षुजीव को बांरबार गहन अवगाहन अवश्य करने योग्य है। पूर्णता का लक्ष्य होने के अर्थ, वैराग्य की भूमिका में आने के बाद लक्ष्य निर्धार होने के पूर्व छूटने संबंधी गहन मंथन चलता है तब ही लक्ष्य की दृढ़ता उत्पन्न होती है। उसे दर्शाते हुए कृपालुदेव के वचन, मुमुक्षुजीव के मर्मस्थल को छू लें जैसे हैं। लिखते हैं कि, 'चाहे जो हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने परिषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ



सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो, और दुर्निमित्त हो, परंतु (परिभ्रमण न हो) ऐसा करना ही। तब तक है जीव ! छुटकारा नहीं है। इस भाँति किसी भी कीमत पर निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचना है।

❁ इस प्रकार जब कोई अपूर्व संवेग मुमुक्षु के परिणामों में उत्पन्न होता है तब वह मुमुक्षु यथार्थ प्रकार से ज्ञानी के मार्ग के अगले क्रम में प्रवेश करता है तथा किसी भी पर्याय में संतुष्ट नहीं होता।

उक्त प्रकार से क्रम में प्रवेश होने के पश्चात् उसका मुमुक्षुजीव की अगले क्रम की दशा में प्रवेश होता है। तब वह जीव क्रमशः आत्मस्वरूप के निश्चय के प्रति किस प्रकार से आगे बढ़ता है उस क्रम को सूचित करनेवाला आपश्री का (पत्रांक २५४) वचनामृत प्रसिद्ध है। इस पत्र में मुमुक्षुजीव के परिणामन का विकास-क्रम प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैं कि, अनादि का स्वच्छंद जो कि महा दोष है उसे घटाने और नाश करने हेतु मुमुक्षुजीव अपने वर्त रहे दोष का अपक्षपातरूप से अवलोकन करता है।

अनादि से जीव को गुण की रुचि न होने के कारण जाने-अनजाने में उसे दोष का पक्षपात होता है। ऐसी दशा में जीव स्वच्छंद के कारण ज्ञानी के मार्ग पर चलने के बजाय अपनी कल्पना से धर्म को प्राप्त करना चाहता है। परंतु उसमें उसे अनंतकाल में भी सफलता मिल नहीं सकती।

❁ परिपूर्ण निर्दोषता के लक्ष्य से जो मुमुक्षु अपने दोष



का अपक्षपातरूप से अवलोकन करता है उसे ऐसा निजावलोकन होने का प्रेरक बल, आत्मस्वरूप की प्राप्ति की अपूर्व भावनामें से उत्पन्न हुआ होता है। इसके अलावा यथार्थ अवलोकन होना संभवित नहीं है।

❁ ऐसे अवलोकन से स्वच्छंद की जहाँ थोड़ी अथवा बहुत हानी हुई है, वहाँ उतनी बोधबीज योग्य भूमिका होती है। तब भी 'मार्गप्राप्ति' को रोकनेवाले मुख्यतः तीन कारण होते हैं। इन कारणों की चर्चा करने के पूर्व इस भूमिका में साथ ही साथ उत्पन्न होनेवाले आनुषंगिक परिणामों का ज्ञान, मुमुक्षुजीव को अपने परिणामों के साथ तुलना (मिलान) करने के लिये (कर्ताबुद्धि से करने हेतु नहीं) करना योग्य है।

निजावलोकन के प्रयोग के काल में आत्मस्वरूप की खोज तथा अपूर्व जिज्ञासा वर्तती है। साथ ही साथ जिज्ञासा की तीव्रता के कारण सर्व उदयगत परिणामों के प्रति नीरसता वर्द्धमान होती जाती है। स्वरूप की अन्तर् खोज अत्यंत उत्कटतापूर्वक चलती है जो कि स्व-कार्य की लगन व आतुरतावाले परिणाम सहित होती है।

❁ उक्त प्रकार के परिणामों के कारण को लेकर इस भूमिका में आत्मार्थी जीव को निज-हित के प्रयोजन की सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टि उत्पन्न हो आती है जो अत्यंत महत्त्व की उपलब्धि है। इस भूमिका में भी अन्य कितने ही विशिष्ट प्रकार के अविनाभावीरूप से उत्पन्न होनेवाले आनुषंगिक परिणाम ऐसे होते हैं कि उस जीव का संसार-बल परिक्षीण होने से उसे पूर्व प्रारब्धउदय से आ पड़नेवाले कुटुम्ब आदि के कार्यों में



जुड़ना बोझरूप लगता है, त्रासरूप लगता है और आँख में रज-कण जैसा खटकता है।

प्रयोजन की तीक्ष्ण दृष्टि के कारण उसकी समय के सदुपयोग हेतु अत्यंत सावधानी रहती है तथा तत्त्वज्ञान का अभ्यास गहन मंथनपूर्वक, रुचिपूर्वक और सूक्ष्मबोध की अभिलाषा-पूर्वक चलता है।

इस भूमिका में अन्य कितने ही महत्त्व के योग्यतासूचक परिणामों में लोकसंज्ञा का अभाव, सरलता, मध्यस्थता, विशालता आदि परिणामों की उत्पत्ति होती है।

ज्यों ज्यों अंतर अवलोकन बढ़ता है त्यों त्यों आत्महित की जागृति विशेष होती जाती है और आत्मार्थी की भूमिका की निर्मलता भी संप्राप्त होकर वह वर्द्धमान होती जाती है।

❖-इस इतनी भूमिका की संप्राप्ति के पश्चात् भी, यानी कि स्वच्छंद प्रायः दब गया है तथापि 'मार्गप्राप्ति' को रोकनेवाले जो मुख्य कारण हैं उनमें प्रथम कारण 'इस लोक की अल्प भी सुखेच्छा का रह जाना' है। और उसे टालने हेतु-

उदयप्रसंगों में इष्ट-अनिष्टत्व का अभिप्राय निरस्त करने हेतु उसका पुरुषार्थ चलता है। इस प्रकार के प्रयत्न के कारण कहीं भी, अल्प भी सुखबुद्धि न रहे एतदर्थ अत्यंत सावधानी वर्तती है। यदि ऐसा न हो तो जीव की योग्यता रुक जाती है।

❖ आत्मज्ञान प्राप्ति के इच्छुक ऐसे आत्मार्थी जीव को सर्व प्रथम आत्मज्ञान प्राप्त ऐसे सत्पुरुष की खोज रहती है। यों होने का कारण यह है कि इसके सिवा आत्मज्ञान की



प्राप्ति होनी संभव नहीं है, ऐसी सूझ उसे होती है। ऐसी 'सूझ' एक निश्चित प्रकार की सुयोग्यता है। जिसके कारण वह मात्र सत्पुरुष को इच्छता है तथा इसके अलावा अन्य किसी साधन को नहीं इच्छता। जो जीव अन्य साधन की इच्छा रखकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे अन्य प्रकार से प्राप्ति हो नहीं सकती, ऐसी वस्तुस्थिति है।

❀ जब ऐसी खोज करनेवाले जीव को पहचानपूर्वक सत्पुरुष का चरणसान्निध्य प्राप्त होता है तब उसे सत्पुरुष में परमात्मा का दर्शन होकर, परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न होती और उसे महात्मा के प्रति परम प्रेमार्पण आता है; जो परम योग्यता का सूचक है।

इस भूमिका के आनुषंगिक परिणामों में सर्व प्राणियों के प्रति दासत्व, करुणा, कोमलता आदि परिणाम समुत्पन्न होते हैं। एवं आत्महितार्थ निःशंकता भी उत्पन्न होती है।

❀ ज्यों ज्यों अतंर् अवलोकन के प्रयोग में प्रयोगाभ्यास बढ़ता जाता है त्यों त्यों सूक्ष्मता से अपने भावों का परिचय होने लगता है। तथा 'सर्व विकल्पों में एकांत दुःख है' ऐसा उसे अनुभवपद्धति से समझ में आता है और ओघसंज्ञा टलती है। तर्क, युक्ति, न्याय और आगम से, यानी कि विचारपद्धति के द्वारा 'विकल्प में सन्निहित दुःख' की समझ नहीं आती। कारण कि दुःख-सुख अनुभव का विषय है, विचार का नहीं। अतएव सुख-दुःख को समझने हेतु अनुभवपद्धति ही यथार्थ है।

❀ इस प्रकार के प्रयोग में आगे बढ़ने पर भावों का परिचय बढ़ने से भावों की जाति की भी पहचान होती है। तथा स्वभाव



व विभाव जाति की पहचान होने पर अवलोकन का प्रयोग परिवर्तित होकर भेदज्ञान के प्रयोग में परिणमित होता है।

❖ भेदज्ञान भी विकल्प का विषय नहीं अपितु प्रयोग का प्रकार है। जिसका बारंबार अभ्यास करनेपर ज्ञानलक्षण से-वेदन से स्वभाव के निर्णय होने की भूमिका आती है।

❖ स्वभाव का निर्णय अर्थात् परमार्थ की स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति को ज्ञानियों ने बीजज्ञान कहा है। जिसमें स्वयं के स्वरूपअस्तित्व का ग्रहण होता है और वैसा होते ही चैतन्यवीर्य का स्फुरण होता है।

इस भूमिका में आत्मार्थी जीव, पुरुषार्थी की कोई ऐसी अपूर्व स्वसन्मुख-स्थिति में प्रवेश करता है कि जो आगे बढ़कर स्वानुभव में परिणमित होता है।

❖ ज्ञानलक्षण के आधार से आत्मस्वरूप का निर्णय यानी कि स्वरूप जितना अनंत महिमावंत और अनंत सामर्थ्यशाली है, स्वरूप की जितनी सर्वोत्कृष्टता है उसका ज्ञान में, विकल्प की आड़ बगैर, सीधा प्रतिभास होता है। जिससे अत्यंत अत्यंत स्वरूप महिमा वर्तने लगती है। यह स्वरूपमहिमा की पर्याय ही एक स्थिति में 'सम्यग्दर्शन' ऐसा नाम प्राप्त करती है।

-इस आलेख का सारांश यह है कि, संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होनी अति अति दुर्लभ है। इसीलिये जीव का अनंतकाल परिभ्रमण में गुजरा है। मोक्षमार्ग की प्राप्ति के पश्चात् तो इतनी विडंबना नहीं जितनी कि मोक्षमार्ग की प्राप्ति में है। कारण कि मोक्षमार्गी जीवों ने तो निजस्वरूप को जान लिया है और सम्यग्ज्ञान होने से मुक्त होने की





विधि को अनुभवगम्य किया है। तथा जीव कैसी कैसी भूलें करके भटका है उसका उन्हें परिज्ञान भी हुआ है। इसी कारण अनजान आत्मारथी जीव को मोक्षमार्ग की प्राप्ति हेतु अनुभवी ज्ञानी पुरुष की महत् आवश्यकता महसूस होती है। और वे ज्ञानी मुमुक्षुभूमिका के क्रम के ज्ञाता होने से व्यवस्थितरूप से समीप आये हुए जीव को तैरने में तथा वह कहीं भी भूल करे तो उसको सँभाल लेने में अंतरंग कारणभूत होते हैं। इसीलिये सत्शास्त्रों में जगह जगह सत्पुरुष के योग को आत्मयोग जानकर उसकी प्रशंसा की है। . . . इति।

ॐ शांति





## विज्ञान और धर्म

**विज्ञान :-** 'विज्ञान' शब्द से प्रायः भौतिकविज्ञान का खयाल आता है; कारण कि अपने दैनिक व्यावहारिक जीवन में भौतिकविज्ञान के साथ घनिष्ठ संबंध है। वर्तमान में मनुष्य का जीवन, भौतिकविज्ञान द्वारा ऊपलब्ध साधनों से ओतप्रोत है; जिसके कारण, इसके सिवा, अन्य विज्ञान की कल्पना सुलभ नहीं है। परंतु यहाँपर इस भौतिकविज्ञान के विषय को गौण रखकर, मुख्यरूप से जीव का यानी आत्मपदार्थ का विज्ञान विषयक आलेखन करना है।

यद्यपि पदार्थविज्ञान के मूल सिद्धांत (Fundamental Principles) तो जीवपदार्थ को भी समानांतररूप से लागू पड़ते हैं; अतएव जीव के स्वरूप को यहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने हेतु ध्यान आकर्षित करना है जिससे कि तदनुसार जीव के कार्यक्षेत्र व कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार यथार्थरूप से किया जा सके।

जिसप्रकार भौतिकपदार्थ-शरीर, वस्त्र आदि-अनेक परमाणुओं के संयोग से बने हुये हैं; उनमें जड़-परमाणुओं का अस्तित्व है। उसी प्रकार आत्मा भी एक अस्तित्व धारक (चैतन्य) पदार्थ है; जिसे उसके गुण-धर्मों (Properties Characters) द्वारा यानी



कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझना - अनुभवना जरूरी है। कारण कि स्वयं जीव है और स्वयं को सुख-दुःख का अनुभव होता है। तथापि, आज का मानव अपने मूल अस्तित्व से अनभिज्ञ है। तथा उस अस्तित्व में होनेवाली सुख-दुःख की अवस्था (Positoin) के विज्ञान से भी अनजान है।-इस कारण से जीव की सुख-दुःख की समस्या बगैर हल (Unsolved) रही है। अतएव मानवजाति के समक्ष यह सबसे दुरुह समस्या खड़ी है। यदि जीवपदार्थ का विज्ञान समझने में आये को, ऐसी सुख-दुःख की अवस्था का परिज्ञान समझकर, उसका समाधान हो सके ऐसा है। इस भाँति जीव के विज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व स्थापित होता है।

**धर्म :-** 'धर्म' शब्द से प्रायः किसी सांप्रदायिक रूढि अथवा दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, जप, तप, संयम, नियम, तीर्थयात्रा, मंदिर जाना वगैरह का खयाल आता है; कारण कि इस व्यवहार को अपने धर्म के रूप में स्वीकार (Concept) करने के आदी है। प्रत्येक संप्रदाय में धर्म का बिरद (यश) है। तथा मानव उन सांप्रदायिक क्रियाओं से ओतप्रोत होकर वर्तता है। ऐसा रूढिधर्म ही मनुष्य की आत्मा बन चूकी होने से तद्विषयक चुस्तता भी देखने में आती है। इसलिये धर्म के बारे में, ऐसी रूढि सिवा, अन्य विचार का ही अवकाश नहीं रहता। यहाँपर मुख्यरूप से उक्त प्रकार के धर्म का आलेखन नहीं करना है अपितु उसे गौण रख कर, जीव के जीव तरीके के-आत्मशुद्धिरूप-धर्म का तथा उसके कारणों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करना है। उसका विस्तार करने के पहले,



वर्तमान परिस्थिति का विहंगावलोकन करें तो वह निम्न प्रकार है :-

सामान्यतः मनुष्यप्राणी अपने पूर्व कर्म के अनुसार कोई एक संप्रदाय में जन्म लेता है। तथा वह उसमें 'कर्मानुसारिणी बुद्धि' के वश उस संप्रदाय की रूढि का अनुसरण करता है। फिर भले ही वह हिंदु, जैन, ईसाई, इसलाम या बौद्ध इत्यादि किसी भी संप्रदाय में हो ! रूढिधर्म की प्रवृत्ति में प्रवर्तते बुद्धिशाली लोग भी क्वचित् ही सत्य-असत्य का विचार / विवेक अथवा तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं। तथा तत्संबंधी गंभीर विचार किये बगैर ही 'अपने माने हुये' धर्म को सर्वोपरि गिनते हैं ! संक्षेप में कहें तो धर्म के क्षेत्र में प्रायः सर्वत्र अंधश्रद्धा (Blind Faith) का ही साम्राज्य फैला हुआ प्रत्यक्ष देखने में आता है।-ऐसा मध्यस्थता से विचार करनेवाले को अवश्य लगेगा, लगे बगैर न रहेगा।

इस विषय की करुणता (Tragedy) यह है कि, संप्रदायबुद्धि से विचारों की संकुचितता जन्म लेती है और उससे लोग एक और से धर्मकार्य को अतिशय मूल्यवान् कार्य गिनते होनेपर भी दूसरी ओर से उसकी समीचीनता के बारे में तुलनात्मक विचार करने अथवा उसकी तहकीकात करने से कतराते हैं या दूर रहना चाहते हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बुद्धिवाद के इस युग में भी धर्म के विषय में, सदियों जूनी / पुरानी, अंधश्रद्धा की परिस्थिति प्रवर्त रही है, सो बड़ा आश्चर्य है। लोग एक मिट्टी के तवे जैसी तुच्छ खरीदी में भी जाँचकर (टकोर देकर) खरीद करते



हैं, तो क्या इतनी भी जाँच, महान् गिने जानेवाले, 'अपने मान्य' धर्म के बारे में करने में आती है ?

यद्यपि अधिकांश मनुष्यों को तदो आजीविका / भरण-पोषण विषयक प्रवृत्ति में ही अपनी शक्ति व समय खर्चना पड़ता है; जिससे धर्म की बाबत गौण रह जाती है। परंतु संयोग से जिनकी आर्थिक संपन्नता अच्छी है वैसे लोग भी संयोगों की वृद्धि करने या रक्षण करने की सावधानी संबंधी रस-वृत्ति में अपने जीवन का खर्च करते हैं तथा उसमें ही उनका जीवन पूरा हो जाता है; जिससे धर्म के विषय में गंभीर विचार करने का अवकाश ही नहीं रहता।

तथापि सहज वस्तुस्थिति ऐसी है कि : जहाँ लाभ-नुकसान समझ में आवे वहाँ हर व्यक्ति सावधानी से प्रवर्तता है; अतएव यों निश्चिन्त होता है कि धर्म के विषय में बगैर विचार किये-अंधश्रद्धा से-प्रवर्तन करने में कोई नुकसान समझने में नहीं आया है, जिससे उसके प्रति संपूर्ण उपेक्षावृत्ति से प्रवर्तन किया जाता है।-यह वास्तव में कमनसीब परिस्थिति है। जब अति बुद्धिशाली लोग भी अंध अनुकरण करें तो उसे देख सखेद आश्चर्य होता है।

उक्त कारण से ही आज की नई पीढ़ी बुद्धिवादी होने से वह धर्म के प्रति उपेक्षित रहती है। परंतु धर्म को यदि वैज्ञानिकदृष्टि से समझने-समझाने का प्रयास करने में आये तथा उसमें जीव की सुखदुःख की समस्या का विचार करने में आये तो उसमें किसी भी संप्रदाय के विचारवान जीव को अवश्य रस पड़े बिना न रहे। अतएव इस विषयपर, साहित्य



के क्षेत्र में, किसी की भी आलोचना किये बिना, मुक्त चर्चा होने योग्य है।

वस्तु-विषय को पकड़े रहकर, उसके गुण-दोष तथा लाभालाभ का वस्तु - विज्ञान के साथ कितना संबंध है उसे अब यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

पदार्थविज्ञान के दृष्टिकोण से विचार ने पर, जीव एक अस्तित्व धारक पदार्थ है। जैसे जड़परमाणु अनेक वस्तु के रूप में (वस्त्र, मकान इत्यादि) अस्तित्व रखते हैं वैसे। जैसे जड़परमाणु परमाणुरूप से-जड़रूप से रहकर-टिककर अवस्था में अवस्थांतर होता है यानी कि जगत के पदार्थों में परिवर्तन होता ही रहता है, इसलिये परिवर्तनशीलता पदार्थ का स्वभाव है; वैसे जीव भी परिवर्तनशील पदार्थ है और उसकी अवस्था बदलती रहती है, सो प्रत्यक्ष है।

जिस प्रकार जड़पदार्थ की अपनी शक्तियाँ और गुण-धर्म हैं; उसी प्रकार जीव की भी अपनी स्थायी शक्तियाँ और गुण-धर्म हैं। जिस तरह जड़परमाणु परस्पर के संयोग-वियोगरूप कारणों को लेकर निश्चित प्रकार की अवस्था को धारण करता है। [उदाहरणार्थ : दूध में जामन डालने से दही बनता है]; उसी तरह जीव भी अन्य जीव और जड़ पदार्थों के निमित्त से कोई खास अवस्था को प्राप्त करता है।-इस भाँति पदार्थविज्ञान के मूलभूत सिद्धांतों को विचार ने पर जीव भी एक पदार्थ है ऐसा स्वीकार ने योग्य है।

अब, किसी भी पदार्थ करे परिज्ञान हेतु उसके द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को समझना आवश्यक है। वैसे जीव के द्रव्य,



क्षेत्र, काल और भाव को समझने से जीव की प्रयोजनभूत ऐसी सुख - दुःखरूप अवस्था के विज्ञान को भी समझा जा सकेगा। इस विषय की चर्चा के पूर्व यहाँ जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझ लेना है।

**१. द्रव्य :** जीव एक चेतन द्रव्य है अर्थात् किसी भी जीव का स्वयं का या अन्य का अस्तित्व चेतनता से मालूम पड़ता है।

**२. क्षेत्र :** प्रत्येक जीव का क्षेत्रफल स्वयं के शरीर के क्षेत्र के प्रमाण है। (शास्त्र में उसे असंख्यात प्रदेश प्रमाण कहा है। प्रदेश = एक परमाणु का क्षेत्रफल।)

**३. काल :** काल माने अवस्था। अवस्था दो प्रकार की है : क्षेत्रात्मक तथा भावात्मक। क्षेत्र की अवस्था कर्मजनित चारों गतियों में जो जैसे शरीर होते है उसके आकार से होती है। तथा भाव की अवस्था विकारी और निर्विकारी अर्थात् विकृत और शुद्ध ऐसे दो प्रकार की होती है।

**४. भाव :** भाव यानी जीव के स्वरूपभूत मूल गुण या शक्तियाँ। जैसे कि अस्तित्व, ज्ञान, सुख आदि अनंत शक्तियाँ।

-इसके अतिरिक्त जीव के तथा जड़पदार्थ के धर्म (Characters) होते हैं। उसमें द्रव्य के, गुण के व अवस्था के अपने अपने धर्म होते हैं। ऐसे धर्मों में भी अन्य पदार्थों के साथ निमित्तपने संबंध रखनेवाले (Relative Relation) धर्म भी होते हैं। इन आधारभूत वैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार जीव का स्वरूप समझना आवश्यक है। कारण कि जीव के उत्पन्न होती ज्ञान की तथा सुख-दुःख की अवस्थायें जीव के विज्ञान



अनुसार ही होती हैं।

यद्यपि हर जीव को सुख चाहिए, दुःख बिलकुल नहीं। परंतु इस एक समस्या का अनुभव सभी को है कि कहे जानेवाले सुख के साधन प्राप्त होनेपर भी जीव को सुख प्राप्त नहीं होता अपितु दुःख होता है। जिसे सर्व प्रकार की अनुकूलता होते हुए भी अशांति-बेचैनी आदि होती है, ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है। अतएव यों फलित होता है कि : सुख-दुःख का मूल कारण उससे कोई अलग ही होना चाहिए।

उपर्युक्त समस्या का वैज्ञानिकदृष्टि से विचार करने से उसका समाधान अवश्य होने योग्य है। यथा :-

जीवद्रव्य के मुख्य-गुण-श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र = आचरण, पुरुषार्थ = वीर्य और सुख-की अवस्था / परिणमन का विज्ञान समझना ज़रूरी है। तदुपरांत जीव में अनादि-अनंत अस्तित्वशक्ति का अनंत सामर्थ्य है जिसके कारण वह सदैव स्वतंत्ररूप से अपने अस्तित्व को धारण करता है जिससे वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। ऐसे अपने स्वतंत्र (Independent) यथार्थ अस्तित्व से स्वयं अनजान होने से जीव अपने को सदा अन्य-शरीर, आहार, पानी, हवा आदि-पदार्थों के आधार से (Dependent) जीवित, टिकता, निबहता जानता है, मानता है। इसलिये स्वयं की परतंत्रता के स्वीकार से और स्वतंत्रता के अस्वीकार से जीव को सदैव परतंत्रता के अनुभव का दुःख होता है।-ऐसी भूल, अनभिज्ञतारूप अज्ञान से हुयी है। इस अज्ञान को श्रद्धा का / मान्यता का बल मिलने से वह दृढ़ हो चुका है।

हरएक पदार्थ के मूल गुण उस पदार्थ की संपत्ति (Property)



ॡ ॡ ॡ ॡ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ ॢ

है। जीव में भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख, अस्तित्व, प्रभुत्व, जीवत्व इत्यादि अनंत गुणरूप अपनी अनंत शक्तियाँ हैं। जो हरएक को अपना अनंत सामर्थ्य है।-ऐसे अपने अनंत सामर्थ्य से अनभिज्ञ जीव को, अपने ज्ञान, सुख आदि के लिये अन्य पदार्थ से वैसी अवस्था को प्राप्त करने जैसी भ्राँति हुआ करती है।-ऐसी भ्राँति से जीव अन्य पदार्थ की परतंत्रता के अधीन होकर, उसे उसकी अपेक्षा रहा करती है और उसकी प्राप्ति हेतु वह अनेक उपाधिजन्य प्रवृत्ति करके उपाधिमय जीवन व्यतीत करता है। सुखकी प्राप्ति हेतु यों करना अनिवार्य है। ऐसा निर्णय सर्व साधारण मनुष्यों को स्वीकार्य होता है।-यह विपरीत निर्णय (Misconcept) ही मूलतः सर्व दुःखों का मूल है। यदि अपने में विद्यमान शक्तिरूप संपत्ति की पहचान कर स्वीकारने में आये तो जीव का जीवन /परिणमन पलट जाए यानी कि सर्व दुःख से मुक्त होकर जीव सुखी हो। इसीलिये विचारवान महापुरुषों ने यह महा सिद्धांत प्रकाशित किया है कि : 'सर्व क्लेश और सर्व दुःख से मुक्त होने का उपाय एक आत्मज्ञान करना वह है।' यदि आत्मज्ञान से सर्व दुःखों से छूटकर सुखी हुआ जाता हो तो ऐसे आत्मज्ञान का मूल्य अन्य किसी भी प्रकार से न हो सके उतना है-यों सहज समझा जा सके ऐसा है।

यहाँ आत्मज्ञान, यानी आत्मा संबंधी जानने को मिले वैसा सिर्फ जानकारिरूप ज्ञान नहीं बल्कि आत्मा तो अनुभवनीय पदार्थ होने से उसका अनुभवज्ञान, वह (ज्ञान) सर्व संपूर्ण सुख का मूल कारण है।



इसीलिये जैनदर्शन के पौराणिक आगमों में धर्म की परिभाषा रूढिप्रधान क्रिया से नहीं दर्शायी है परंतु वैज्ञानिक पद्धति से दर्शायी गई है कि : 'वत्थुसहावो धम्मो' ('वस्तु का स्वभाव धर्म है।') अर्थात् जीव अपने स्वभावस्वरूप से परिणमन करे-अविकृत अवस्था को प्राप्त हो सो धर्म है। यानी कि आत्मा की अविकृत अवस्था माने विकारी अवस्था मिटकर के आत्मा की अवस्था में शुद्धिकरण होना सो धर्म है। सांप्रत धार्मिकसमाज में रूढिधर्म की क्रिया का साम्राज्य व्याप्त है।, उसमें वैज्ञानिक ढंग से आत्मशुद्धि की प्रक्रिया विलय हो चुकी है सो सर्वाधिक करुणता है।

संसार में जीव प्रायः शारीरिक असाता के दुःख को अनुभवता है तथा मानसिक, दाह, उपाधि, तनाव के दुःख को अनुभवता है। इसके सिवा जन्म लेने के समय तथा मरण के समय भी केवल अत्यंत दुःख का अनुभव करता है; उसका वैज्ञानिक कारण / निदान समझने में आए तो तद्विषयक गृहीत विपरीत निर्णय (Misconcept) छुटे और दुःख निवारण के सत्य उपाय हेतु विश्वास उत्पन्न हो। इस दुःख निवारण के वैज्ञानिक उपाय को धर्म कहने में आता है। इस प्रकार धर्म आत्मा का वैज्ञानिक परिणमन (Oriented Position) है। इस विषयपर आगे बढ़ने के पहले, यहाँ दुःख के निदान के बारे में विचार करना आवश्यक है।

ऊपर कहे अनुसार, 'विपरीत निर्णय' ही सर्व दुःख का मूल है। दुःख का यह निदान, जीव के गुणधर्म अनुसार करना योग्य है। तदनुसार विचार करनेपर जीव में रहे विशिष्ट गुण-



श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुख, पुरुषार्थ (वीर्य) आदि की शक्ति, तथा उनके परिणमनस्वभाव की प्रकृति और विकृति यहाँ विचारने योग्य है।

जीवपदार्थ के विज्ञान के मुताबिक जीव में शक्तिरूप से अनंत सुख रहा हुआ है। उस सुखगुण की प्रकृति सुखरूप परिणमन करने की है। परंतु जीव के विपरीत निश्चय (Misconcept) के कारण सुखगुण का परिणमन दुःखरूप प्रगट होता है। जीव में अपने में ही रहे ऐसे सुखगुण की अनभिज्ञतावश जीव अपना सुख अन्यत्र, अन्यपदार्थ और अन्यभाव में खोजता है अथवा प्राप्त करने का वृथा प्रयत्न करता है। अतएव सुख की अभिलाषा होनेपर भी-विपरीत कार्यपद्धति के कारण-सुखगुण की (परिणमन में) विकृति होकर वह दुःखरूप परिणमन करता है। 'स्वरूप में रहे हुए सुख को किस भाँति प्रगट करना' उस विधि से भी जगत के जीव अनजान होने से, स्वमतिकल्पना से सुख प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं और फलस्वरूप वे सुख प्राप्त करने के बदले दुःख का अनुभव करते हैं।

जगत् में कहे जानेवाले बुद्धिमान मनुष्य भी सुख - दुःख होने के उक्त विज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण तथा अनेक प्रकार के संयोगो (-लक्ष्मी, सत्ता, कुटुम्ब, परिवार, मित्र आदि) में से सुख प्राप्ति का निश्चय होने के कारण उन उन पदार्थों को जुटाने का अनंतकाल से प्रयत्न करते हैं। परंतु कही जाती सुख की सर्व प्रकार की सामग्री प्राप्त होते हुए भी सुख का अनुभव प्रत्यक्षतः देखने में नहीं आता। बल्कि अतृप्तदशा में (भोग-उपभोग के भोगने पर भी) अशांति / बेचैनी प्रत्यक्ष



देखने में आती है। यों होने का वैज्ञानिक कारण यह है कि : आत्मा में रहे हुए सुख और शांत स्वभाव को यथार्थ विधि से उत्पन्न करने के बदले, जिन पदार्थों में सुख- शांति नहीं है, ऐसे-उन पदार्थोंमें से सुख प्राप्ति का वृथा प्रयत्न किया होने से, सुखगुणका विपरीत परिणमन, ऐसा जो दुःख वह, उत्पन्न होता है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि, अति बुद्धिशाली लोग भी वैज्ञानिक रीति से 'सुख' की खोज क्यों नहीं करते ? ! एवं कहे जानेवाले सुख के साधनों के पीछे मात्र अंधश्रद्धा से व्यर्थ अंधी दौड़ लगाते हैं ? वास्तव में तो सुख को वैज्ञानिक रीत से साकार (Materialise) करने में सच्ची बुद्धिमत्ता है। बुद्धिशाली मनुष्य व्यावहारिकजीवन के सर्व प्रसंगों में चारों ओर से पूरेपूरी जाँचपड़तालपूर्वक कार्य करते हैं; परन्तु सुख- दुःख की समस्या के बारे में, जो कि सर्वाधिक प्रयोजनभूत है उसमें, अंधविश्वास से जीवन जीते हैं ! परिणामस्वरूप दुःख का मूल कारण (Rootcause) नहीं मिलता। अतः वैज्ञानिक रीति से दुःख का निदान होना योग्य है। कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी अति अल्पवय में भी सही लिखते हैं कि :

'लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो ?  
 शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो;  
 वधवापणुं संसारनुं नरदेहने हारी हारी जवो;  
 एनो विचार नहीं अहोहो ! एक पल तमने हवो !!'



उक्त प्रकार से ज्ञानीपुरुषों ने जीव की विपरीत समझध तथा सुख विषयक विपरीत निश्चय को सर्व दुःख का, सर्व दोषों का और दोष से उत्पन्न होनेवाले जन्म-जरा-मरणादि संसारपरिभ्रमण का निदान किया है जो गंभीर विचार करने पर तथा अनुभव से जाँच करने पर यथार्थ है, यों लगे बिना नहीं रहेगा। यह बात जिसे समझ में आती है वह दुःख से मुक्त होने के सही उपाय को खोजता है, और जो खोजता है उसे वह उपाय अवश्य मिलता है।

ज्ञानीपुरुषों ने सर्व दुःख से, सर्व दोष से और तद्जनित संसार परिभ्रमण से मुक्त होने का उपाय 'एक आत्मज्ञान करना' - ऐसा प्रसिद्धरूप से प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं अपितु उन महापुरुषों ने तथारूप आत्मज्ञान संप्राप्त करके, आत्मामें से आत्मसुख की अनुभूति करके, आत्मानुभव करने की 'विधि' निष्कारण करुणा से दर्शायी है। वैसे ज्ञानीपुरुष त्रिकाल जयवंत हों ! और उन्हें त्रिकाल नमस्कार हो ! नमस्कार हो !!

जिस 'आत्मज्ञान' से सर्व प्रकार के दुःखों से छूटा जा सकता हो और सदा के लिये निराकुल आत्मसुख की उपलब्धि होती हो वैसे आत्मज्ञान के मूल्यांकन हेतु जगत् में कोई पदार्थ ही नहीं है। यह सहज समझा जा सके ऐसा है। जिस आत्मज्ञान से यानी कि अपने स्वरूप के ज्ञान से जीव अनजान है और ज्ञान प्राप्ति हेतु आत्मज्ञान संबंधी ग्रंथों का अध्ययन तथा जप-तपादि अनेक प्रकार से परिश्रम करता है फिर भी 'आत्मा', मूर्तिमंत आत्मज्ञानस्वरूप ऐसे ज्ञानीपुरुष के बिना जाना नहीं जा सकता-ऐसा निश्चय भी उन ज्ञानियों ने मार्गबोधरूप से

० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०  
 प्रकाशित किया है। जिस जीव में 'ऐसा विवेक' किसी धन्य पल में प्रगट होता है, तब वह जीव अन्य सर्व विकल्प छोड़ करके ऐसे पुरुष की खोज करता है; तथा जब तक ऐसा योग प्राप्त न हो तब तक वह शिथिल होकर नहीं बैठता, अथवा अन्य किसी उपाय में नहीं जुटता। सर्व दुःख से और सर्व क्लेश से मुक्त होने के उपाय में 'आत्मज्ञान-दातार' के प्रत्यक्षयोग का महत्त्व जब तक जीव को समझ में न आये, तब तक 'वह उपाय' प्राप्त होना विकट है, इतना ही नहीं वरन् अशक्य भी है। तथा जिसे उपर्युक्त समझ से 'प्रत्यक्ष सत्पुरुष' का महत्त्व भासित होता है, वह मात्र उन्हें ही इच्छता है, उन्हीं की आश्रयभावना में वर्तता है; उस जीव को अवश्य ज्ञानीपुरुष की प्राप्ति होती है। उसे प्रत्यक्षयोग में प्रत्यक्षपरिचय से उनकी पहचान होती है। वह पहचान होने पर वह मुमुक्षुजीव, मोक्षदातार ऐसे ज्ञानीपुरुष को भजता है और उनके प्रति कोई अपूर्व स्नेह उमड़ता है, वह ऐसा कि उस सजीवनमूर्ति के वियोग में एक घड़ी आयुष्य भोगना वह भी उसे भारी पीड़ादायक लगता है; तिसपर भी प्रारब्धयोग से ज्ञानीपुरुष के वियोग में रहना पड़े तो वह उन्हीं में वृत्ति रखकर, उदासीनभाव से जीता है; परन्तु उनके बदले में अन्य किसी पदार्थ को स्थान देना उससे नहीं बन सकता। जीव को ऐसी दशा जब आती है तब वह जीव उत्तमकोटि की सुपात्रता को प्राप्त करता है और तब जीव को आत्मज्ञानप्राप्ति का अवसर अति निकट होता है, यों समझने योग्य है।

जीव के गुण-धर्मों तथा जड़ परमाणु के गुण-धर्मों का


  
 विज्ञान, सुख-दुःख की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। अनादि से जीव ने जड़ परमाणु की अनेक प्रकार की अवस्थाओं में सुख अथवा दुःख का कल्पित निश्चय किया है, कर रहा है; वह जीव के ज्ञानगुण के परिणमन की विकृति / विपर्यास है। परंतु ज्ञान का स्वभाव-प्रकृति, वैसे परिणमन करने की नहीं है; ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर पदार्थ को जैसा है वैसा जानने का है। ऐसी यथार्थ समझ जब होती है तब जड़पदार्थ-शरीरादि संयोगों-में सुख-दुःख होने का या देने का गुणधर्म नहीं है, ऐसा यथार्थ समझ में आता है परंतु वैसा अनुभव नहीं होता (वरन) उससे विपरीत अनुभव हो रहा है-यों न होने का प्रयत्न, यथार्थ समझ में चलता है। प्रयत्न यानी पुरुषार्थ, वह जीव के वीर्यगुण की अवस्था है तथा वह हमेशा ज्ञान का अनुसरण करती है। जड़ परमाणु की किसी भी अवस्था में सुख-दुःख नहीं होने पर भी उसमें, जब ज्ञान, कल्पित निश्चय से सुख-दुःख की कल्पना करता है तब जीव का पुरुषार्थ जड़पदार्थ की अवस्था के प्रति-अवस्थाओं में फेरफार करने में-प्रवर्तता है। परंतु उस वृथा परिश्रम के कारण, सुखगुण विकृत होकर आकुलतारूप परिणमन करता है। कारण कि जीव, जड़पदार्थ में फेरफार कर सके ऐसी वैज्ञानिक वस्तुस्थिति नहीं है। जड़ परमाणु तो हमेशा स्वयं के गुणधर्म अनुसार ही परिणमन करते हैं। हाँ, परस्पर जीव और जड़ की अवस्थाओं में निमित्त-नैमित्तिकभाव से, सदृशरूप परिणमन करने का धर्म अवश्य है, तिसपर भी, एक दूसरे का कार्य करे वैसा गुण / स्वभाव नहीं है। कारण कि दोनों द्रव्यों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव,



सर्वथा, और सर्वदा भिन्न हैं। इसलिये दोनों का अस्तित्व, अपने अपने अस्तित्वगुण के कारण सदा स्वतंत्र है। जड़ परमाणु में ज्ञान, श्रद्धा, सुख आदि का अभाव है तथा उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अनंत गुण-धर्मों का सद्भाव है।

जीव को जो ज्ञान, श्रद्धा, सुख आदि शक्तियाँ हैं, उनका स्वभाव शुद्ध-अविपरीतपने परिणमन करने का है। तथापि अनादि से उनका विपरीत परिणमन चल रहा है। उसका विज्ञान जब तक समझने में नहीं आता तब तक जीव विपरीतपने परिणमन करता है, जो दोषित है। 'दोष होने से दुःख की उत्पत्ति होती है तथा निर्दोषता से सुख की उत्पत्ति होती है।' -यह कारण-कार्य की वैज्ञानिक परिस्थिति है। अतः **दोष और निर्दोषता के विज्ञान को समझना अति आवश्यक है।**

जीव के मुख्य गुणों-ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य आदि-के परिणमन के विज्ञान को तथा परस्पर के कार्य-कारणपरने को समझने से अज्ञान से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की अकुलाहट मिट जाती है। अतएव इस विषय में यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है :-

प्रथम, जीव के ज्ञानगुण को समझना : यह जीव में रही हुई एक अद्भूत चमत्कारिक मुख्य शक्ति है। इसका मुख्य स्वभाव स्वयं का स्वयंरूप अनुभव (स्वसंवेदन) करने का है तथा स्व-पर पदार्थ को जानने का है।

संसारपरिभ्रमण के दौरान जब जीव का ज्ञान विवेक करता है तब वह आत्मकल्याण का मार्ग / उपाय खोजता है। उसके पूर्व अविवेक की अनादि अवस्था में ज्ञान की विकृत / भ्रांतिरूप





अवस्था होती है तथा उसके कारण वह अपने उपर्युक्त मूल स्वभाव को भूल कर, जड़पदार्थ में सुखबुद्धि से और आधारबुद्धि से परिणमन करता है जिससे परमें निजत्व जानकर एकत्वबुद्धि से प्रवर्तता है। ज्ञान की ऐसी विपरीतता, सर्व दोष का तथा सर्व दोष से उत्पन्न होते दुःख का मूल कारण है।

श्रद्धा भी ज्ञान के उक्त दोष का निमित्त पाकर पर का स्वपने श्रद्धान करती है। यद्यपि श्रद्धा का मूल स्वभाव अपने को अपने मूलस्वरूप में श्रद्धान करने का है; जो ज्ञान में स्वानुभव होने पर प्रगट होता है। श्रद्धागुण का परिणमनस्वभाव पूरा परिणमन करने का है, जिससे विपरीत अवस्था में भी उसमें पूरी विपरीतता होती है अर्थात् मिथ्याश्रद्धान भी पूरा होता है। तथा अविपरीत / सम्यक् अवस्था में भी श्रद्धा पूर्ण शुद्ध होकर परिणमन करती है। सर्व जीव को श्रद्धान तो होता ही है। परंतु अपने मूल पूर्ण शुद्ध सिद्धसदृश स्वरूप का श्रद्धान करना वही शुद्ध / सम्यक् श्रद्धा है। वैसा न होनेपर अपने को अपनी अन्यथा मान्यता होनी सो मिथ्याश्रद्धा है।

चारित्र जीव का गुण है। उसका स्वभाव स्वस्वरूप में वीतरागभाव से लीन / स्थिर रहने का है। परन्तु जब तक ज्ञान और श्रद्धा परपदार्थ में अपनापन जानती है और मानती है तब तक चारित्रगुण का परिणमन पर में रागभाव से एकाग्रता / लीनता को प्राप्त होता है। तथा जीव जब सदगुरु-योग से अपना मूल स्वरूप जानकर, श्रद्धान करता है तब वह स्वस्वरूप में एकाग्र होने हेतु समर्थ होता है। इसप्रकार आत्मस्वरूप की एकाग्रतारूप जो आत्मध्यान है वह हमेशा ज्ञान और श्रद्धान

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○

अनुसार होता है। किसी भी जीव का ज्ञान-श्रद्धान सम्यक् हुए बिना, आत्मध्यान हो ही नहीं सकता-ऐसा वस्तु का वैज्ञानिक स्वरूप है। अतएव श्रद्धा-ज्ञान की सम्यक्ता बगैर कोई ध्यान का प्रयत्न करता है तो उसे कभी सफलता नहीं मिलती बल्कि वह वृथा परिश्रम होता है और वह मार्गाभास होने से वहाँ (नया बुद्धिपूर्वक का) गृहीतमिथ्यात्व उत्पन्न करता है।

तथा, जीव में सुख नामकी शक्ति है। इस गुण के कारण जीवमात्र सुख को इच्छता है। 'निराकुलभाव से परिणमन करना' ऐसा उसका (जीव का) स्वभाव है। परंतु अनादि से जीव को भ्रांति है। अनंत, बेहद, अचिन्त्य, अव्याबाध सुख स्वयं में होनेपर भी उसका भान नहीं है। परंतु जिस जड़ परमाणु में सुख का गुण या सुख देने का गुण नहीं है, तो भी उसमें से सुख मिलेगा, ऐसी जीव को भ्रांति है। जिससे वह उसमें से सुख प्राप्ति हेतु भौतिकपदार्थों को प्राप्त कर, उन्हें भोगकर, सुखी होने का मिथ्या प्रयास करता है; फलस्वरूप सुख प्राप्त करने के बदले सुखगुण की विकृति होकर उसे दुःख का-अतृप्ति से उत्पन्न होती आकुलता का-अनुभव होता है। परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी ने ठीक ही कहा है :

**'सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो,...**  
**लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो ?'...**

जीव मात्र का जो प्रयोजन है ऐसा 'सुख', उसके विज्ञान को समझे बिना, जगत में सर्वत्र दुःखी प्राणी देखने में आते

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

हैं। तथा भौतिकपदार्थों के पीछे की दौड़ में अनेक प्रकार से क्लेश और विग्रह होते देखने में आते हैं। परन्तु वस्तु के स्वरूप को यथार्थरूप से समझने पर दुःख से मुक्त होकर, आत्मिक सुख जो कि स्वभाव धर्म है, उसकी (अनुभवरूप) प्राप्ति हो सकती है। विश्व में इस विज्ञान की अप्रसिद्धि है वह एक करुण स्थिति है। निःस्पृही वीतरागी महात्माओं ने इस विषय का, अपने अनुभव से सत्शास्त्रों में वैज्ञानिकपद्धति से निरूपण किया है जिसका बृहत् प्रसार होना आवश्यक है जिससे ज्यादा से ज्यादा जीव लाभ ले सके। तथा, जीव में 'वीर्य' (पुरुषार्थ) शक्ति है। उसका स्वभाव परिणामों को आत्मसम्मुख करने का है। तिसपर भी स्वस्वरूप के बेभानपने में-अन्यपदार्थ में सुख का निश्चय होने से-वीर्य गुण का विकृन्त परिणमन होता है। जिससे विकारीभाव होने में जीव का बल रहता है अथवा जीव में विकार जोर करता है। परन्तु जब जीव ज्ञान में निजस्वरूप का निश्चय करता है तब से वीर्य का अंश दिशा बदलता है यानी कि स्वरूपसम्मुख होता है; तथा वह आगे बढ़कर विकल्प को शांत करता है तब अतर्मुख होकर आत्मपरिणामों की शुद्धि करता है, और आध्यात्मिक आनंद का अनुभव कराता है।

-इस प्रकार जीव के मुख्य गुणों के परिणमन की तथा परस्पर के कार्य-कारण की उपर्युक्त वैज्ञानिक परिस्थिति है।

उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि जीव का धर्म सुख-शांतिरूप परिणमन करने का है, और वह निर्दोषता के फलस्वरूप उत्पन्न होता है; अतः किसी भी जीव को सुख प्राप्ति के लिये



निर्दोषता उत्पन्न करना आवश्यक है। विज्ञान के सिद्धांत अनुसार 'कारणपूर्वक कार्य की उत्पत्ति होती है।' यहाँ भी निर्दोषता कारण है तथा सुख उत्पन्न होना सो कार्य है।-ऐसा वस्तुस्वरूप है। अतएव वैज्ञानिक ढंग से निर्दोषता उत्पन्न हो उस दृष्टिकोण से विचार करना उचित है।

उल्लेखनीय है कि, निर्दोषता उत्पन्न होने के उक्त विज्ञान से जो अनजान हैं वे अन्य अनेक कल्पित प्रकार से यथामति उस दिशा में प्रयत्न करते देखने में आते हैं परंतु उससे सफलता नहीं मिलती। अतः जिन्होंने सम्यक् प्रकार से निर्दोषता पवित्रता प्राप्त की है वैसे पुरुष के आश्रय से वह विज्ञान सुगमता से प्राप्त होने योग्य है।

जीव की अवस्था में अज्ञानजनित विभाव का रोग अनादि से घर घालकर रहा हुआ है। उसके फलस्वरूप जीव चौरासी लाख योनि में जन्मता है और मरण को प्राप्त होकर परिभ्रमण कर रहा है। उसे मिटाने के लिये, सर्वप्रथम उसको मिटाने की चिंतना होनी अनिवार्य है। संसार में जीव वर्तमान और भावी संयोगों की चिंता से घिरा हुआ है जिससे उसे भवरोग की चिंता विस्मृत है, जो उचित नहीं है; कारण कि संयोग मात्र वर्तमान भवपर्यंत मर्यादित हैं। उनकी तुलना में अनंत जन्म-मरण की समस्या अनंतगुनी है। उसका 'वास्तविक विवेक' ज्ञान में होने से, विपरीत श्रद्धा निर्बल होती है तथा चारित्रगुण में उत्पन्न होनेवाले-काम, क्रोधादि-विकार का रस टूटने लगता है। इस प्रकार मुख्य गुणों-ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र-के परिणामन में यथार्थ प्रकार से सुधार होने की शरूआत होती है। तब यथार्थ



वैराग्य और पात्रता प्रगट होती है। और वर्तमान संयोगों की चिंता मिटकर, उसके प्रति सहजभाव से उदासीनता-उपेक्षा उत्पन्न होती है।

ऐसी दशा में जीव के ज्ञान में जन्म-मरण से छूटने के उपाय का मूल्यांकन भासित होता है। तथा वैसे उपाय को सर्वोत्कृष्ट अग्रता (Top Priority) देना सहज बनता है। तथा वैसे उपाय को किसी भी मूल्य पर, किसी भी स्थिति में प्राप्त करने का अभिप्राय गढ़ने में आता है। तथा वैसे अभिप्राय के अनुसार प्रयास शुरू होता है।-इस भूमिका में ज्ञान का विवेक-विचारबल बढ़ता है और विपरीत श्रद्धा का बल अधिक घटता है; वह दृढ़ मुमुक्षुता है; जिसमें जीव सम्पूर्ण निर्दोष होने के ध्येय को बाँधकर, पूरी शक्ति से अपने आदर्श तक पहुँचने के लिये बलवान उद्यम करने हेतु तत्पर होता है और शीघ्रता से पूर्ण निर्दोष होना चाहता है। 'संसार में दोष से उत्पन्न होनेवाले सुख में सुख नहीं वरन् उसमें सुखाभास है'-ऐसा इस भूमिका में समझने में आता है। तथा जगत के किसी भी प्रसंग या वस्तु में अल्प-भी सुख की आशा-अपेक्षा रहित शुद्ध अंतःकरण से ऐसा भासित होता है।

इस भूमिका में गुण से उत्पन्न होनेवाले सुख में जीव की वृत्ति जाती है तथा वर्त रहे परिणमन में जागृति आती है। जिससे वह मोक्षार्थी जीव अपक्षपातरूप से अपने दोषों को देखता है। जिसके कारण परिणाम में दोष नीरसता को प्राप्त होते हैं। दोष का बल रस पर आधारित है। इस प्रकार से अवलोकन द्वारा दोष की शक्ति ज्यों ज्यों टूटती जाती है



त्यों त्यों परिणाम की मलिनता घटती जाती है। और जैसे जैसे मलिनता घटती है वैसे वैसे ज्ञान में निर्मलता आती है कि जिस निर्मलता के कारण आत्महित का विवेक बलवान होता जाता है तथा विपरीत श्रद्धा में मंदता आती है यानी कि श्रद्धा की विपरीतता कमजोर पड़ती जाती है। इस प्रयोग से यथार्थरूप से मुमुक्षुता वर्द्धमान होती जाती है तथा निजहित के प्रयोजनभूत विषय में दृष्टि सूक्ष्म व तीक्ष्ण होती जाती है; जिससे सूक्ष्म दोष भी जानने में आ जाते हैं। ज्ञान में जैसे जैसे सूक्ष्मता गढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वभाव का भावभासन आता जाता है।

उक्त प्रकार से अवलोकन के प्रयोग से अपने अनुभव में आनेवाले भावों का परिचय बढ़ता है तथा उस परिचय से विभावजाति और स्वभावजाति के भावों की पहचान होती है। विभावजाति के भावों / परिणामों में मलिनता, दुःख और स्वभावविरुद्धता भासती / लगती है; तथा स्वभावजाति के भाव में यानी कि ज्ञान में पवित्रता, निराकुलता और अविरुद्धता भास्यमान होती है। दोनों भाव एक ही समय में, एक ही अवस्था में होनेपर भी उनके बीच का अंतर, अनुभव से जानने में आता है।-उसे भेदज्ञान कहते हैं। उस भेदज्ञान का लक्षण यह है कि विभाव की तीव्र अरुचि हो, वे जहर जैसे लगें। अतएव वहाँ से सहज खिसकने का प्रयास आत्मा करती है। ऐसे भेदज्ञान के प्रयोग के दौरान जीव को अपने मूल सहज स्वरूप का निश्चय होता है। भेदज्ञान का प्रयोग, ज्ञान से भिन्न ऐसे रागादि भावों की भिन्नता जानने से होता है-यह जानना,



मात्र वैचारिकभूमि का जितना मर्यादित नहीं होता; परन्तु ज्ञान की व्यापकता का अनुभव, ज्ञान की वेदकता का अनुभव और ज्ञान की प्रत्यक्षता का 'अनुभव से जानना' होता है। और इसीलिये ज्ञान के आधार से, ज्ञान में, आत्मस्वभाव का यथार्थ निश्चय होता है। वह आत्मस्वभाव, अपना परमात्मपद, अनंतज्ञान व अनंतसुख आदि दिव्यगुणों से परिपूर्ण भासने लगता है। अनंत ऐश्वर्य अपने में ही मालूम पड़ने से, जगत के सर्व पदार्थों का-जो कि आत्मा से शून्य हैं उनका-मूल्य चला जाता है; तथा स्वयं स्वयं के अभेदस्वरूप की महिमा में लीन रहने लगता है।

जीव के विज्ञान अनुसार जहाँ सुख का निश्चय हो वहाँ परिणाम लगने का सहज पुरुषार्थ हुआ करता है। इसलिये उक्त स्वरूपनिश्चय में पुरुषार्थ स्वरूप के प्रति सहज गतिमान होता है और एक स्थिति में वह अभेदभाव से स्वरूप में स्थिर हो जाता है। उसे ही आत्मसाक्षात्कार, आत्मदर्शन, आत्मज्ञान व आत्मध्यान कहने में आता है; जो भवनाशक परिणाम है। यहाँ आत्मानंद और अमृतमयी आत्मशांति प्राप्त होने से आत्मा तृप्त होती है अर्थात् आत्मा को अवर्णनीय सुखामृतमयी तृप्ति का अनुभव होता है।-यह वस्तुस्वभावरूप 'धर्म' है।

ऐसा 'धर्म का विज्ञान' सर्व दुःख और सर्व क्लेश से मुक्त होने का उपायरूप है तथा आत्मशांति की प्राप्ति का 'उपाय' है; अतएव वह पूरे उद्यम और उत्साह से उपासनीय है।

जिन महात्माओं ने सर्व दोषों के क्षय करनेरूप 'उपाय'



को निष्कारण करुणा से प्रकाशित किया है उन्हें अत्यंत भक्ति से नमस्कार हो !!

ॐ शांति







## सम्यक्त्व का

सम्यग्दर्शन के अभिलाषी जीवों को यह अवश्य विचार करने योग्य है कि : सम्यक्त्व का बीजभूत कारण क्या हो सकता है ? अतएव इस परिप्रेक्ष्य में परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के अनेक विधानों का अनुसंधान कर इस विषयपर यहाँ यथाशक्य प्रकाश डालना उचित लगता है।

इस विषय में तीन बातें विचारणीय हैं:

(१) अनंतकाल से परिभ्रमण करते इस जीव ने यम, नियम, संयम और शास्त्राभ्यास आदि अनेक धर्मसाधन करनेपर भी कोई बीजभूत भूल रहती आयी है कि जिस कारण को लेकर जीव मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं कर सका।

(२) उपर्युक्त बीजभूत भूल कौन सी है ? वह कैसे मिटे ? तथा उसके मिटने की परिस्थिति क्या हो सकती है ?

(३) उपर्युक्त बीजभूत भूल मिटने से जीव के परिणाम किस प्रकार से वर्ते कि जिससे वे परिणाम विकास प्राप्त कर शुद्धात्मस्वरूप की पहचान हो कर, परमार्थ निर्विकल्प सम्यक्त्व को प्राप्त कर निर्वाणमार्ग में प्रवेश करे ?

जिनमार्ग में प्रसिद्ध है कि मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है अथवा धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। 'दंसणमूलो धम्मो'-यह आगम



का सूत्र सर्वविदित है। वर्तमानकाल में सम्यग्दर्शन अति दुर्लभ है इतना ही नहीं अपितु तीनोंकाल में उसकी दुर्लभता समझनी योग्य है। अनंत काल में अनंतबार अनेक प्रकार के धर्मसाधन करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं हुयी यही उसकी दुर्लभता सिद्ध करती है। इसलिये विचारवान जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु उसके अंगभूत कारण तथा कारण के कारण तक का विचार करना आवश्यक है।

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्र जी पत्रांक-२४९ में स्पष्ट लिखते हैं कि 'प्रायः सत्पुरुष के दर्शन और योग की इस काल में अप्राप्ति दिखायी देती है। जब ऐसा है, तब सद्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुष को कहाँ से प्राप्त हो ? और अमुक काल व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तब मुमुक्षुता भी कैसे रहे ?..... सम्यक्त्वप्राप्त पुरुष का निश्चय होने पर और योग्यता के कारण से जीव सम्यक्त्व पाता है।... और इससे यह निश्चय होता है कि उस योग का और उस प्रत्यक्ष चिंतन का फल मोक्ष होता है, क्योंकि सत्पुरुष ही 'मूर्तिमान मोक्ष' है।

उपर्युक्त वचनामृत के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि अनंतकाल में जीव इस जगह भूला है। जीव की यह बीजभूत भूल हुयी है। यानी कि यम, नियम, संयम और शास्त्रज्ञान इत्यादिक अनंतबार किये हैं परन्तु सत्पुरुष का निश्चय / पहचान न होने के कारण वे सभी साधन ज्ञानीपुरुष की आज्ञा से नहीं हुए; जिससे वे सर्वसाधन बंधनरूप हुए हैं। अनंतकाल में सजीवन मूर्ति का योग अनंतबार हुआ है मगर पहचान नहीं



हुयी; इसलिये प्रायः पूर्व में हो गये महा पुरुषों की भक्ति आदि करने में आती है। इसी पत्र-२४९ में वे फरमाते हैं कि 'पूर्व में हो गये महापुरुषों का चिंतन कल्याणकारक है; तथापि वह स्वरूपस्थिति का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीव को क्या करना चाहिये यह बात उनके स्मरण से समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष योग होने पर बिना समझाये भी स्वरूपस्थिति का होना हम संभवित मानते हैं।'

उपर्युक्त वचनामृत के अनुसंधान में आपश्री ने पत्र-१७२ में अत्यंत महत्त्व के विषय का प्रतिपादन किया है कि 'निरंतर उदासीनता के क्रम का सेवन करना; सत्पुरुष की भक्ति में लीन होना; सत्पुरुषों के चरित्रों का स्मरण करना; सत्पुरुषों के लक्षण का चिंतन करना; सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना; उनके मन, वचन और काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भूत रहस्यों का बारंबार निदिध्यासन करना; और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।- यह ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित, निर्वाणके लिये मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रतिक्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व संतों के हृदय का और ईश्वर के घर का मर्म पाने का महामार्ग है। और इन सब का कारण किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति और उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना ? आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्ष में और चाहे तो उसके बाद में या उससे पहले, यही सूझनेपर, यही प्राप्त होने पर छुटकारा है।'



उपर्युक्त वचनामृत में अत्यंत स्पष्ट निर्देश है कि : किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति होनेपर यदि उसकी पहचान हो, तो जीव सर्व उदय के प्रति उदासीन होकर सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होने इत्यादि के उक्त परिणामों में परिणमित होता है और जिससे उस जीव को निर्वाणपद के अधिकारी होने की पात्रता समुत्पन्न होती है। यानी कि यथार्थ प्रकार से उस जीव के दर्शनमोह का अनुभाग घट कर वह उपशम होने योग्य स्थिति को प्राप्त करता है। दर्शनमोह अन्य किसी भी घर्मसाधन से यथार्थरूप से मंद न होने के कारण विचारवान जीवों ने इस मार्ग का ग्रहण किया है। उक्त वचनामृत में तद्विषयक महत्त्व समझाने हेतु अत्यंत भूरपूर्वक विधान किया है।

तदुपरांत आपश्री ने 'आत्मसिद्धि शास्त्र' में वर्णित समकित के प्रकारों का विशेषार्थ समझाते हुए तीन प्रकार के समतिक दर्शाये है। जिसमें पहला समकित यानी कि निर्विकल्प परमार्थअनुभवरूप समकित के कारण का कारण 'सत्पुरुष की पहचान तथा उस पहचान से प्राप्त वचन की प्रतीति, आज्ञा की अपूर्व रुचि और स्वच्छंदनिरोधता से सत्पुरुष की भक्ति' इत्यादिक परिणाम दर्शाये हैं।

तथापि, अनादि काल से वर्तमान तक के अनंतकाल में एकबार भी सत्पुरुष की पहचान नहीं हुयी। इसलिये तथारूप पहचान न होने संबंधी कारण विचारणीय हैं। सत्पुरुष की पहचान होने में किस प्रकार के प्रतिबंधक भाव होते हैं उन्हें समझकर, उनका अभाव करना योग्य है। कारण कि सत्पुरुष की पहचान

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

होनी वह सम्यक्त्व के कारण का बीज है। अर्थात् सम्यक्त्व का कारण आत्मस्वरूप की पहचान है, तथा वह पहचान होने की योग्यता, विद्यमान सत्पुरुष की पहचान के सिवा कभी किसी को प्राप्त नहीं होती। कारण कि आत्मस्वरूप मूलतः शक्तिरूप तत्त्व है। जब कि सत्पुरुष के स्वरूप में प्रगटरूप से आत्मस्वरूप व्यक्त हुआ है। अतएव व्यक्त की पहचान हुए बिना अव्यक्त की पहचान होनी असंभव है।

ज्ञानीपुरुष की पहचान न होने में जीव के तीन महान दोष जानने योग्य हैं : एक तो 'मैं जानता हूँ, 'मैं समझता हूँ' इस प्रकार का जो अभिमान जीव को रहा करता है; ऐसे 'स्वच्छंद' के कारण ज्ञानी के विषय में अपने समान कल्पना रहा करती है, और अपनी कल्पना के अनुसार ज्ञानी के वचन का तोलन किया जाता है। इस प्रकार के स्वच्छंद के कारण, थोड़ा भी शास्त्र-वाचन आदि क्षयोपशमज्ञान होने से अनेक प्रकार से उसे प्रदर्शित करने की जीव को इच्छा रहा करती है। परलक्ष्य और असत्संग के कारण इस प्रकार से वर्तता जीव ज्ञानी से अनजान रहता है।

दूसरा, कुटुम्ब - परिग्रहादिक में ज्ञानीपुरुष की अपेक्षा विशेष राग जब तक रहता है तब तक ज्ञानीपुरुष के प्रति जितना विनयान्वित होना चाहिए व उनकी आज्ञा का अनुसरण करना चाहिए उसमें वह भाव (राग) आड़े आता है। असार और अशरणभूत ऐसे कुटुम्ब-परिग्रहादिक में महत्ता व अधिकता के परिणाम रहते हैं उसके कारण लौकिकभावना और लोकप्रतिबंध से उदास होना नहीं बन सकता। राग के विषय में भी जब



तक उपर्युक्त फेरफार होकर, ज्ञान-ध्यान इन सब के कारण जो ज्ञानीपुरुष और उनकी आज्ञा का अनुसरण करने का महत्त्व भास्यमान होकर अधिकता नहीं आती तब तक जीव ज्ञानीपुरुष से अनजान रहता है।

तीसरा, लोकभय के कारण, यानी कि लोक में अपकीर्ति होने के भय के कारण व अपमान होने के कारण, ज्ञानीपुरुष विद्यमान होनेपर भी उनके प्रति उपेक्षा का सेवन अथवा तो ज्ञानी से विमुख रहना बनता है। अथवा तो उनके प्रति जितना विनयान्वित होना चाहिए उतना न होना।

-ये तीन कारण जीव को ज्ञानी से अनजान रखते हैं इसलिये जैसे बने वैसे आत्मकल्याण की भावना करके उन्हें कम करना अथवा निवृत्त करना आवश्यक है। उपर्युक्त कारणों के सद्भाव में रहकर जीव अन्य अनेक प्रकार के धर्मसाधन करे तो भी वह, सम्यक्त्व की प्राप्ति या उसकी कारणभूत स्थिति में नहीं आ सकता।

तो अब, ज्ञानी की पहचान कैसे हो ? कि : ज्ञानीपुरुष की पहचान जीव को 'दृढ़ मुमुक्षुता' आने के बाद होनी संभव है। ज्ञानदशा या वीतरागदशा दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टा का विषय नहीं है बल्कि वह आत्मा का अंतरात्मगुण है। और वैसी अंतरात्मा जगतवासी जीवों, मंद दशावान मुमुक्षुओं या मध्यमदशा के मुमुक्षुजीवों के अनुभव का विषय न होने से, एवं वैसे प्रकार का अनुमान भी कर सके ऐसी उनकी योग्यता न होने से, वे ज्ञानी को नहीं पहचान सकते। परन्तु कोई जीव जिसकी कि होनहार इच्छा होती है वह सत्समागम के



योग से वैसी योग्यता प्राप्त करके ज्ञानी को पहचान लेता है, तब प्रथम सत्समागम के काल में उस जीव को अकुलानेवाले अनेक प्रकार के असमाधानों के प्रकारों का समाधान अंतर से प्राप्त होता है और उसके प्रमाण में उसे यथाशक्ति ज्ञानी के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। परन्तु वास्तविक पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागम से स्वयं को प्राप्त वर्तमान प्रयोजनभूत उपदेश का अमलीकरण होने से अर्थात् अपने वर्तमान प्रयोजन के विषय को तत्काल प्रयोग में ले जा करके, अंतर में आत्मवृत्ति से परिणमन होने पर यानी कि बाह्यदृष्टि से-बाह्यत्याग व बाह्यक्षयोपशम ज्ञान की महिमा-छट करके, जीव ज्ञानी को पहचान सकता है।

उपर्युक्त प्रकार की योग्यता से मुमुक्षुजीव उत्तमकोटि की मुमुक्षुता में वर्तता होने से वह ज्ञानी की वाणी का आशय समझ सकता है। उसी भाँति उसे ज्ञानी की वाणी के विलक्षण प्रकार के गुण-विशिष्टताये-जैसे कि पूर्वापर अविरोधता; आत्मार्थ-उपदेशकता; और अपूर्व अर्थ का निरूपण (अर्थात् ऐसे निरूपण से उस मुमुक्षु को अपने भावों में अपना आत्महितरूप प्रयोजन अपूर्वरूप से भासना); एवं अनुभवसहितपना; तथा आत्मा को सतत जाग्रत करनार; इत्यादि अनेक विशेषतायें-समझ में आती हैं। ऐसा उपदेश, आत्मस्वरूप के समानपने में ही दीया जा सकता है। और उक्त प्रकार के आशय का उपदेश, भानसहित पुरुष के बिना नहीं दिया जा सकता, ऐसा सहज ही समझा जा सकता है। तब ज्ञानीपुरुष की मुखमुद्रा द्वारा व उनकी, मन, वचन, काया की विलक्षण चेष्टा द्वारा ज्ञानीपुरुष को पहचानना



बनता है। उसमें भी ज्ञानीपुरुष के नेत्रों में जो वीतरागता, अंतर्मुखता व निर्लेपता आदि भाव, मुमुक्षुजीव को-उत्कृष्ट मुमुक्षुभूमिका में प्राप्त ज्ञान की निर्मलता से-वाचने को मिलते हैं; जिससे उनके प्रति अचल प्रेम और सम्यक् प्रतीति उत्पन्न होती है।

वास्तविकता का एक अटल और सर्वसामान्य मनुष्यों के अनुभवगोचर हो वैसा सिद्धांत यह है कि : परिणमन देखनेवाले को, जो परिणमन स्वयं देखता है वैसा, परिणमन सहज आविर्भूत होता है। जैसे कि अन्य के हर्ष-शोक के परिणामों को देखने से देखने वाले को भी हर्ष-शोक के भाव सहज आ जाते हैं। यहाँ सिद्धांत में ज्ञानीपुरुष के अंतरपरिणमन के द्वारा ज्ञानदशा के अपूर्वभाव, जो अंतर में निजपरमात्मपद के अलौकिक पुरुषार्थ से आलंबन लेते हैं और उन भावों का स्वरूप स्वरूपाकार होने से ज्ञानीपुरुष में परमात्मतत्त्व का दर्शन होता है; जो ज्ञानीपुरुष में परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न करता है। और वह बुद्धि, मुमुक्षुजीव को सर्व प्रकार के प्रतिबंध से मुक्त करती है। जिससे अनुक्रम से वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंद का उसने सेवन किया है। उनकी दशा को प्राप्त होता है अर्थात् अवश्य ज्ञानदशा को प्राप्त करता है।

अब, जब मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष की पहचान होती है तब उसकी योग्यता में अनेक प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं वे भी यहाँ ध्यातव्य हैं : ज्ञानीपुरुष की पहचान होनेपर जीव के अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ फिके पड़ने का (अनुभाग घटने का) प्रकार बनने योग्य है; ऐसे मुमुक्षुजीव के मताग्रह,





दुराग्रहादि भाव भी छूट जाते हैं अथवा ढीले पड़ जाते हैं; और अपने दोष करने के प्रति चित् मुड़ा करता है। सबसे महत्त्व का फेरफार यह होता है कि उसे विकथाआदि में तथा धार्मिकचर्चा में अप्रयोजनभूत विषय में बिलकुल नीरसता लगती है या जुगुप्सा उत्पन्न होती है। उसी भाँति अनित्यादि भावना के चिंतवन के प्रति बल वीर्य स्फुरण हेतु जो ज्ञानीपुरुष से श्रवण किया है या शास्त्र में पढ़ा है उससे भी बलवान परिणाम के द्वारा वह अनपे संयोगों के प्रति अनित्यता, अशरणता और असारता को दृढ़ करता है। जिससे सत्पुरुष को पहचानने के पूर्व, संयोग व पंचविषयादि के प्रति, जिस प्रकार के रसवाले परिणाम थे वैसे परिणाम नहीं रहते और जीव यथार्थ प्रकार के वैराग्य में आता है।

वास्तव में तो अनंतकाल में दुर्लभ ऐसा जो आत्मज्ञान, वह सत्पुरुष का योग होने के बाद कुछ भी दुर्लभ नहीं है अर्थात् सहज और सुलभ है। कारण कि उस जीव को सत्पुरुष में, उनके वचनों में, उन वचनों के आशय में अत्यंत प्रीति-भक्ति होती है जिससे कि यथार्थ प्रकार से दर्शनमोह विगलित होकर उपशम होने योग्य होता है कि जिससे समकाल में स्वानुभूतिरूप आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है । जबतक ऐसी दशा नहीं आती तब तक ऐसा समझने योग्य है कि जीव को मूल में ही आत्मकल्याण की यथार्थ भावना उत्पन्न नहीं हुयी, तथा उस जीव को सत्पुरुष का अपूर्व योग प्राप्त हुआ है ऐसा उसे भासित भी नहीं हुआ है।

जीव को सत्पुरुष का योग होने पर और पहचान होनेपर



ऐसा समझ में आता है कि, आजपर्यंत जो प्रयत्न मेरे कल्याणार्थ थे वे सभी निष्फल थे, लक्ष्यविहीन बाण जैसे थे। परन्तु अब सत्पुरुष का अपूर्व योग हुआ है जिससे मेरे सर्व साधन सफल होने का कारण मुझे प्राप्त हुआ है। मैं आत्महित के अलौकिक मार्ग से अनजान हूँ तथा मैंने अनुभवी मार्गदृष्टा पुरुष का शरण ग्रहण किया होने से, मार्ग के प्रति चलने में चूक होगी तो, वे अवश्य मुझे बचा लेंगे। वह जीव तब से-लोकसंज्ञा से जो निष्फल और निर्लक्ष्य साधन किये थे वे अब सत्पुरुष के योग से न करने पर-अंतरात्मा में विचार करके दृढ़ परिणाम रखकर जागृत हो जाता है। उसे ऐसा भासता है कि इस योग से मेरे जीव को अपूर्व फल प्राप्त होने योग्य है अतएव उसमें अंतराय करनेवाला 'मैं जानता हूँ' ऐसे प्रकार का जो अभिमान न हो उसकी तीक्ष्ण जागृति आति है। उसी भाँति- 'संप्रदाय में होनेवाली क्रियाओं का तथा कुलपरंपरा से होते धर्मकार्यो का कैसे त्याग हो सके ?' ऐसा-लोकभय, या सत्पुरुष की भक्ति में भी लौकिकभाव नहीं होता। सत्पुरुष की पहचान हो जाने के पश्चात्, कदाचित् ज्ञानी के कोई पंचविषयाकार कार्य उदय में देखकर, मुमुक्षुजीव भूल से भी वैसे भाव का आलंबन या आराधन (जो अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का प्रकार है) नहीं करता।

-इस प्रकार से ज्ञानीपुरुष की पहचान, निर्वाणमार्ग का एक बीजभूत प्रत्यक्ष कारण होने से और तथाप्रकार की योग्यता में आने से उस जीव को आत्मस्वरूप की पहचान व लक्ष्य होने योग्य क्षमता प्राप्त होती है कि जिस में परमार्थ की स्पष्ट



अनुभवांश से प्रतीति होती है जिससे निर्विकल्प परमार्थ अनुभवरूप सम्यग्दर्शन की अल्प काल में प्राप्ति होती है। निश्चय सम्यग्दर्शन के ये दोनों कारण (कारण और उसका कारण) वीतरागों ने मान्य किये हैं; अतएव ये तीनों (समकित) सम्मत करने योग्य हैं, उपासना करने योग्य हैं, सत्कार करने योग्य हैं; और भक्ति करने योग्य हैं।

सारांश के रूप में कृपालुदेव के वचनामृत (८१७) का यहाँ उद्धरण करना योग्य है : 'आत्मदशा को पाकर जो निर्द्वन्द्वता से यथाप्रारब्ध विचरते हैं, ऐसे महात्माओं का योग जीव को दुर्लभ है। वैसा योग मिलनेपर जीव को उस पुरुष की पहचान नहीं होती, और तथारूप पहचान हुए बिना उस महात्मा का दृढ़ाश्रय नहीं होता। जब तक आश्रय दृढ़ न हो तब तक उपदेश फलित नहीं होता। उपदेश के फलित हुए बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना जन्मादि दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति नहीं बन पाती।'

उक्त वचनामृत में लेखांक का सार स्पष्ट है जो आत्मार्थीजीव को निजहितार्थ उपासनीय है।

ॐ शांति





## एक म-ान् समस्या और उसका निराकरण

इस विश्व में समस्या के असंख्य प्रकार हैं। परन्तु जीव की सबसे भारी समस्या अनंतकाल से जन्म-मरण करके, परिभ्रमण हो रहा है, सो है। विधि की सबसे बड़ी विचित्रता भी यह है कि, जीव छोटी-मोटी समस्याओं की चिंता से घिरा हुआ रहता है अतएव महान् समस्या का अनादि से विस्मरण हो रहा है। अरे ! एसी कोई समस्या है और उसका समाधान प्राप्त करना आवश्यक है-उसकी भी अधिकांश जीवों को खबर नहीं है।

जिसका होनहार अच्छा है वैसा कोई जीव, किसी महत्पुण्योदय से सत्संग में आता है तब उसे समूचा संसार केवल दुःखमय लगता है; तथा 'मेरा' परिभ्रमण हो रहा है व अब भी परिभ्रमण के कारणरूप परिणाम वर्त रहे हैं-ऐसा लगने लगता है; और उस जीव को परिभ्रमण से छूटने का भाव आता है अर्थात् अपना हित करने का भाव जगता है। तब वह जीव अपने दोष की ओर दृष्टि करता है। उसमें उसे यों लगता है कि-'मेरा पर में' अपनेपन का भाव है, वही परिभ्रमण करवाता है। पर में निजत्व के भाव के कारण मैं

पर की चिंता से अबतक घिराया हुआ रहा और इसीलिये परिभ्रमण की समस्या विस्मृत रही; यह बड़ी भारी गंभीर भूल हुई।-ऐसी यथार्थ समझ से, वह स्वयं तय करता है कि 'मुझे अब किसी भी कीमत पर परिभ्रमण नहीं करना है।' -इस निश्चय से वह अपने दोष देखना शुरू करता है तब अपने दोष दिखाई देने लगता है और ज्यों ज्यों वैसा प्रयास बढ़ता है त्यों त्यों सूक्ष्मता आने लगती है। तथापि उदय-प्रसंग में जो कुछ राग-द्वेष, हर्ष-शोक हुआ करता है तथा जितना कुछ विभावरस दिखता है, उसका पश्चाताप इस प्रकार से होता है कि-मुझे तो परिभ्रमण से छूटना है तिसपर भी परिभ्रमण करानेवाले ऐसे परिणाम होते हैं सो मुझे नहीं चाहिए। यों करते करते सहजरूप से उसकी वेदना शुरू हो जाती है।

उक्त प्रकार से वेदना बढ़कर तीव्र होती है तब अधिक उदासीनता वर्तती है। और उसका कहीं भी मन नहीं लगता। खाना-पीना, किसी के साथ मिलना-जुलना, बातचीत करनी नहीं रुचती। कोई आ जाए तो वह बोझरूप लगे और बेचैन ... बेचैन रहा करे। वह बेचैनी यहाँ तक बढ़ जाती है कि निद्रा भी नहीं आती।-ऐसी बेचैनी और वेदना के दौरान ऐसा निर्णय होता है कि 'अब मुझे इस संसारमें से कुछ नहीं चाहिए।' जो कोई पदार्थ जुटाने की वृत्ति उठे तो वह आकुलतामय लगती है। और जो जो इच्छायें हों उनमें आकुलता का ही अनुभव होता है।-ऐसी तीव्र वेदना के काल में चारों प्रकार के (-समाज, कुटुम्ब, शरीर और संकल्प-विकल्प) प्रतिबंध शिथिल हो जाते हैं। अधिकतर यह वेदना बहुत दिन चलती है, जिसके



कारण अंतःकरण की शुद्धि होती है। दोचार दिवस चली हुयी वेदना प्रायःकर यथार्थ नहीं होती किंतु वह भावुकतामय होती है। परन्तु लंबे समय तक चली हुई वेदना, अत्यंत उदासीनतापूर्वक, पूर्ण शुद्धि के लक्ष्य में परिणमित होती हैं।

ऐसी वेदनावाले मुमुक्षु के परिणमन को देख कर भी दूसरे जीव को तद्रूप परिणमन आता है, तब उसे ऐसा दिखाई देता है कि - इस जीव को परिभ्रमण की कैसी थकान लगी है ! मुझे तो अब भी संसार में रस पड़ता है, इसलिये अब भी मैं परिभ्रमण से नहीं थका हूँ, इत्यादिक विचारणा से उसपर असर आता है। और इस भाँति वह जीव, परिभ्रमण की यथार्थ वेदना में आता है।

ऐसे समय में उसको एक मार्गदर्शक पुरुष की आवश्यकता पड़ती है। उसमें स्वयं को यों लगता है कि 'मैं संसारसमुद्र के मध्य में डूब रहा हूँ। उसमें से सत्पुरुष मुझे डूबते हुए को बचा सकेंगे। इसलिये ज्ञानीपुरुष के आश्रय से ही मेरा परिभ्रमण मिटेगा। अन्य कोई उपाय है ही नहीं।' - ऐसी सूझ अंतर से आती है। जब ऐसी सूझ आती है तब प्रायः उसको ज्ञानीपुरुष का मिलाप होता है। तथा परम सत्संग-योग में घनिष्ट परिचय साधकर उसको ज्ञानीपुरुष का अंतरपरिणमन दिखाई देता है। और उनके हृदय में बिराजमान परमात्मा के दर्शन होते हैं जिसके कारण ज्ञानीपुरुष में परमेश्वरबुद्धि होती है। सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक अपूर्व स्नेह व अचल प्रेम से वह सत्संग को आराधता है। एवं सत्पुरुष के प्रति परम प्रेमार्पणभाव वर्तने से परिणामों की निर्मलता आती रहती है। जो कदाचित् उपकारी



सत्पुरुष के वियोग में एक घड़ी बीतानी पड़े तो अत्यंत कष्टपूर्ण लगता है। तथा सत्संग के संयोग में या वियोग में, परिभ्रमण मिटाने का, निरंतर लक्ष्य और प्रयास चलता है।

इस भूमिका में अमुक अंश में निर्मलता आने से अंतर से-जो जो असमाधान होते हैं उनका-समाधान, निर्मलता के कारण, सहज आता है। तथा आगे क्या करना ? उसकी सूझ आने लगती है, ज्ञान में विवेक आने लगता है और वह जीव आगे बढ़ता जाता है।

ऐसा नहीं कि मात्र प्रतिकूलता देखकर ही परिभ्रमण दिखाई पड़ता है; किंतु अनुकूलता में फँसते हुए जीवों को देखकर भी वह परिभ्रमण का ही कारण दिखता है; जिससे अपने हितरूप कार्य करने में शीघ्रतावाले परिणा रहा करते हैं। अर्थात् वह जीव शिथिल होकर बैठा नहीं रहता, बल्कि उसको स्वकार्य की उत्कटता व लगन लगती है एवं परिपूर्ण निर्दोष होने का निर्धार सहज होता है; जिसमें दोष का एक कण (अंश) भी कलंकरूप जानकर 'वह नहीं चाहिए' और तदर्थ ज्ञानीपुरुष की आज्ञा से चलने की वृत्ति रहती है। एवं ज्ञानीपुरुष का परिणमन देखकर स्वयं को भी वीर्योल्लास आता है जिसके कारण अपने आत्महित की निःशंकता उत्पन्न होती है।

ॐ शांति





## सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला आत्मार्थी कैसा - ?

अनंतकाल से संसारपरिभ्रमण करते जीव के भव्यत्व का परिपाक आता है। तब उस जीव के अंतर-बाह्य जीवन में फेरफार होता है। और वह एक फेरफार के योग्य घटना बनती है। प्रायः उस जीव को सत्पुण्य से या प्रयत्नपूर्वक सत्संग का योग होता है और उसमें से आत्मोन्नति की परिणामश्रेणि शुरू होती है। उस परिणाम श्रेणि का क्रम आत्मार्थीजीव के लिये प्रयोजनभूत होने से वह यहाँ प्रस्तुत है। उस परिणामश्रेणि की विशेषता यह है कि उन परिणामों की प्रत्येक भूमिका में दर्शनमोह विशेष-विशेष मंद होकर ज्ञान में निर्मलता बढ़ती जाती है।

❁ सर्व प्रथम उस क्रम में प्रवेश करनेवाले जीव को, जो कि स्वयं अनंतकाल से चौरासी लाख योनियों में व चारों गतियों में जन्म-मरण करके परिभ्रमण कर रहा है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई अतएव क्या करने से उसकी निवृत्ति हो ? उसकी चिंतना प्रारंभ होती है। और वह चिंतना उग्र होकर वेदना और व्यथा उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने के पीछे





विवेकपूर्वक की सुविचारणा रही हुई है। संसार में अनेक प्रकार के व अकथ्य दुःख के प्रसंग उत्पन्न होते हैं किंतु उनमें सबसे अधिक दुःखमय प्रसंग आकुलता का है कि जो अकुलाहट असह्य होने से जीव अपघातकर मौत को पसंद करता है। ऐसे असह्य दुःखों से निवृत्त होने की समस्या सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या की तुलना में संसार की कोई भी समस्या हो तो वह बहुत ही अल्प है। इसलिये विचारवानपने के कारण समस्त उदय गौण होकर, सहज ही परिभ्रमण से मुक्त होने की, वेदनापूर्वक जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

❁ जब कोई भी जीव उपर्युक्त वेदना में आता है तब उसे अति वेदना के वश खाने-पीने से लेकर समस्त उदयगत कार्यो में सहज ही नीरसपना हो जाता है और सहज उदासीनता का क्रम इस स्तर में शुरू होता है। जिससे पंचेन्द्रियों के विषयो में आसक्ति और रस के परिणाम एकदम फीके पड़ जाते हैं। उसी भाँति संसार कि उपासना का अभिप्राय भी शिथिल हो जाता है। तथा इस भूमिका में अनादि काल का स्वच्छंद शिथिल हो जाता है। संसार-उपासना का अभिप्राय शिथिल होने से प्रतिबंधक भाव भी ढीले पड़ जाते है जिससे आत्मकल्याण की दिशा में आगे बढ़ने हेतु अवकाश प्राप्त होता है।

❁ अनादि से जीव का ध्येय संसार का होने से उसकी सावधानी देहादि संयोगों की सार-सँभाल व वृद्धि के कार्य में वर्तती है। ऐसी सावधानी सदैव दर्शनमोह को तीव्र करती है, जिससे आत्महित की विवेकवाली मति को आवरण आता है।



परंतु उक्त उदासीनता के कारण, उस प्रकार की सावधानी छूटकर, जीव मुक्त होने को निर्धार / निर्णय में आता है और परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशा प्राप्त करने का ध्येय बाँधता है। वह इस प्रकार कि- 'अब मुझे इस जगत में से कुछ भी नहीं चाहिए, एक मेरा आत्मा ही चाहिए।' ऐसी दृढ़ वृत्ति से ही अंतःकरण की शुद्धि होती है। जब शुद्ध अंतःकरण से इस प्रकार का ध्येय बाँधने में आता है तब, संसार की उपासना व संसार के ध्येय के कारण कारण जो जो विपरीत अभिप्राय थे उन अभिप्रायों में परिवर्तन आता है और 'एकमात्र मोक्ष अभिलाषा' होने से मोक्ष के बारे में ही उसका अभिप्रायपूर्वक प्रयास चलता है। इस भूमिका में विपरीत अभिप्रायों का भलीभाँति परिवर्तन होता है। और उसके कारण यहाँ से वास्तविक मुमुक्षुता की शुरुआत होती है। एक न्याय से इन परिणामों से मोक्षमहल की नींव का पत्थर (मंगल शिलान्यास) रखने में आता है। उसी भाँति इस भूमिका का सुदृढ़ता से निर्धार करने से मुमुक्षुभूमिका में यथायोग्य उपजनेवाले अन्य आनुषंगिक परिणामों की सहज उत्पत्ति होती है। उसमें यह ध्येय / लक्ष्य कारणभूत है और इसी के फलस्वरूप सहजरूप से ऊपर-ऊपर की भूमिका के परिणाम होने लगते हैं; जिनका विवरण निम्न है :-

❖ उपर्युक्त ध्येय का निर्धार होने से अंतर की गहराईमें से स्वरूप-प्राप्ति की अपूर्व भावना उदित होती है। ऐसी भावना पृष्ठ भूमि (Back Ground) कोई राग-द्वेष के कारण नहीं बल्कि मात्र निज चैतन्यमें से ही चैतन्य की भावना उपजी हुई होती है। इसलिये वह जीव संवेगपूर्वक अपने ध्येय के प्रति पूरी



लगन से और उत्कटता से लगता है। लगन के साथ साथ स्वकार्य की पूरी उत्कंठापूर्वक आगे बढ़नेवाले मुमुक्षु की भूमिका में अति अल्पकाल में विकास होता है। जिस जिस प्रकार का विकास सधाता है, उन विकास के परिणामों का विवरण निम्न प्रकार से जानने योग्य है।

❁ पूर्णता का लक्ष्य निरंतर रहता होने से मुमुक्षु की भूमिका के विकास का मुख्य आधार जिसपर है ऐसी निजहित के प्रयोजन की दृष्टि, यहाँ से प्राप्त होती है तथा वह दृष्टि, तीक्ष्णरूप से व सूक्ष्मरूप से प्रवर्तती हुई अपने को अहित से बचाती है और शीघ्रता से हित साधन में कार्यसाधक होती है। उदाहरणार्थ :- पूर्वकाल की अपेक्षा वर्तमान में उच्चकोटि के शुभभाव होनेपर भी और उसमें आत्मकल्याण का लक्ष्य रहनेपर भी वहाँ स्वानुभूति का अभाव होने से उसकी खटक अंदर से बनी ही रहती है। जिसमे पूर्वकाल की तुलना में अनेक प्रकार से वर्तमानदशा का सुधार होनेपर भी उसमें तनिक-सा भी संतोष नहीं होता, अपितु असंतोष वर्तता है। तथा स्वकार्य त्वरा से हो वैसी उत्कटता इस भूमिका में होती है। जिसके कारण आ पड़े उदय के कार्यो की प्रवृत्ति करनी पड़े उस में थकान लगती है और वैसा उदय लंबाये तो त्रासरूप अनुभवाता है जिससे संसारबल घटता ही जाता है।

❁ निजहित के प्रयोजन की जो दृष्टि पूर्ण शुद्धि का लक्ष्य होने से प्राप्त होती है उस दृष्टिकोण के कारण एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंतरसूझ उद्भवती है जिससे अपनी भूमिका में-भवरोग की निवृत्ति का उपाय जिसने जाना है वैसे आत्मज्ञानी सत्पुरुष

के चरणकमल के सान्निध्य में रहने का अभिप्राय हो आता है ! अनंतकाल में पहले अनेक धर्म-साधन करनेपर भी जीव को एसी सूझ नहीं आई और वह एक भयंकर बीजभूत भूल रह गई ! उस भूल का सुधार होना सो एक महत्त्वपूर्ण कार्यसिद्धि समझने योग्य है ! इस सूझ के कारण आत्मार्थी जीव को ऐसा विवेक वर्तता है कि 'में मार्ग से अनभिज्ञ हूं ! तथा मेरे भवरोग के इलाज हेतु मुझे अपनी मतिकल्पना से-स्वच्छंदता से कुछ भी साधन या उपाय, मात्र उक्त बीजभूत भूल को टालने के अलावा, करना नहीं चाहिए ! वास्तव में तो यदि कोई ज्ञानीपुरुष मिल जाये तो मेरे सर्वपरिणामों की किताब खोलकर मेरी प्रवर्तमान योग्यता को दर्शा दूं ! और मेरा कल्याण हो वैसे मार्गदर्शन की याचना करू !'-ऐसे विवेकपूर्वक वह जीव मात्र सत्पुरुष को इच्छता है ओर उनकी खोज करता है ! एवम् वैसे महात्मा के योग में, पहचानने की तीव्रता रखकर, उनकी पहचान करता है; और यदि पहचान हो जाये तो उन्हें परम प्रेम से चाहता है और सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक उनके सत्संग में रहकर, पूर्ण आज्ञाकारिता में रहकर यानी कि स्वच्छंदनिरोधपने भक्तिभाव से उस सत्संग की उपासना करता है ! उनके चाहे जैसे वचनों में भी सम्यक् प्रतीति रहती है ! तथा अपने प्रकृति आदि सर्वभावों का अर्पण करके वर्तता है ! इस प्रकार के परिणामों के कारण उस आत्मार्थी जीव का दर्शनमोह अत्यंत मंदता को प्राप्त होता है तथा उस भूमिका के ज्ञान की निर्मलता विशेष होती है ! जैसे जैसे ज्ञान में निर्मलता आती जाती है वैसे वैसे प्रयोजन की दृष्टि अधिक सूक्ष्म औत तीक्ष्ण होती



जाती है जो मुमुक्षुता के विकास में मुख्य आधारभूत है ! इस प्रकार से मुमुक्षु की भूमिका में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष योग का अत्यंत महत्त्व है तथा उसकी ऐसी आवश्यकता है कि उसके बिना मुमुक्षु किसी भी प्रकार से, ज्ञानदशा की प्राप्ति अथवा तदर्थ, बीजज्ञान की प्राप्ति कर नहीं सकता !

जो कोई मार्ग-शोधक आत्मार्थी आत्मशांतिहेतु मार्ग न मिलने से, अत्यंत वेदना में और तीव्र तड़पने में आये, तो उसकी पात्रता वर्द्धमान हो सकती है; तो भी मार्ग की प्राप्ति और दिशासूझ तो प्रत्यक्ष ज्ञानी के योग बिना अन्य प्रकार से, किसी भी तरह होनी संभव नहीं है। बाकी सामान्य मुमुक्षु को तो मोक्षमार्ग के प्रति आगे बढ़ने में कदम-कदम पर मार्गदर्शन की जरूरत पड़ती है जिसका समाधान प्रत्यक्ष योग सिवा असंभवित है। और इसीलिये सत्पुरुष के प्रत्यक्ष योग का महत्त्व अनुभव में समझने में आता है। उसका अन्य विकल्प द्वारा मार्ग प्राप्त करने का अविचारी अभिप्राय नहीं होता।

यथार्थता-उक्त प्रयोजन की तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टि होने के कारण, समझ की भूमिका में समझ की यथार्थता उत्पन्न होती है। यद्यपि यथार्थता का क्षेत्र अति गहन और विशाल है तथापि संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि समझ की यथार्थता होनेपर सत्पुरुष के वचन / शास्त्रवचन, प्रयोजन सिद्ध हो जैसे, समझ में आते हैं। प्रायः कहीं भी असमाधान नहीं होता; और अध्यात्मतत्त्व का रस एवं रुचि वृद्धिगत होती जाती है। ऐसा होने का कारण परिणति में रागस्वरूप रंजितपना घटनेपर तथा दर्शनमोह का अनुभाग घटने पर मुमुक्षु के योग्य ज्ञान की



निर्मलता प्राप्त होती है और इस प्रकार वह इस भूमिका की विशुद्धि है अथवा पात्रता है। यथार्थता की प्राप्ति के कारण अयथार्थता से उपजनेवाले विपर्यास मिटते हैं और उन विपर्यासों से उत्पन्न होनेवाली दोष-परंपरा भी मिटती है। ऐसी यथार्थता ही विकसित होकर, स्वानुभूति के काल में, सम्यक्त्व का रूप धारण करती है।

स्वरूपप्राप्ति की तीव्र भावना उत्पन्न हुई होने से, इस भूमिका में, एक नई जागृति आ जाती है जिससे अपने सर्व परिणामों में अपक्षतापने (मध्यस्थभाव से) अवलोकन चालु होता है। अवलोकन यानी वर्तते परिणामों में होनेवाले अनुभव को देखना। अवलोकन के इस प्रकार के अभ्यास से, अनुभव में आनेवाले अनेक प्रकार के भावों की समझ, उन भावों के अनेक पहलुओं से अनुभवपूर्वक समझने में आती है यानी कि अपने भावों की समझ अनुभवपद्धति से होती है। प्रथम वे ही भाव विचारपद्धति से समझ में आये थे परन्तु अवलोकन के अभ्यासपूर्वक वे ही भाव जब अनुभवपद्धति से समझने में आते हैं तब उन भावों की गहनता हाथ में आती है और कितने-ही भावों के पीछे अभिप्राय शामिल हो तो उस अभिप्राय का बल और उसके कारण उपजनेवाला रस वगैरह पकड़ में आता है। उदयभावों में वर्तता विभावरस, अवकोलन के काल में पकड़ने में आने से, वह यथार्थ प्रकार से एकदम फीका पड़ता है और साथ ही साथ दर्शनमोह का अनुभाग भी विशेष घटता जाता है। तदुपरांत तत्त्वज्ञान का अभ्यास भी अंतर अवलोकनपूर्वक चलता है यानी कि उन भावों संबंधी तत्त्वचर्चा चलती है; उन भावों



को अपने अवलोकन से और अंतर् संशोधनपूर्वक समझना बनता है। उसमें भी जब अपना वर्तमान प्रयोजनभूत विषय आता है तब रस वृद्धिगत होता है। ऐसे आत्मार्थी जीव की निर्णय करने की पद्धति प्रयोगपूर्वक हो जाती है। जो जीव केवल शब्दार्थ, भावार्थ, न्याय की मदद से, तर्क-विचार से, अनुमान से या शास्त्राधार से निर्णय करता है उसमें भूल या क्षति रहने की संभावना है परंतु प्रयोगपूर्वक / प्रयोग के शाणपर चढ़ाकर निर्णय होता है वह निर्णय, यथार्थ निर्णय होता है। ऐसा अवलोकन का फल है वह अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं होता।

वैराग्य :- यद्यपि मूल से वैराग्य की क्रमिक शुरुआत तो परिभ्रमण की व्यथा के काल में सहज हो गई होती है, परन्तु अवलोकन के स्तर से यह वैराग्य और उदासीनता क्रम के आगे के स्तर में प्रवेश करती है; और उससे उदय के कार्य जो पूर्वप्रारब्धवशात् आ पड़ते हैं जिससे वे करने पड़ते हैं, तब उनमें अमूल्य आत्मजीवन गँवाना पड़ता है ऐसा लगा करता है। एवं अवलोकन करते - करते सत् की गहरी जिज्ञासा उत्पन्न होने से वह जीव स्वरूप की अंतर्खोज में खो जाता है। और सत्स्वरूप की गहरी जिज्ञासा के कारण सर्व उदयप्रसंगों में कहीं भी चित्त नहीं लगता, बल्कि अपने प्रयोजनभूत विषय को तो सूक्ष्म उपयोग से, गहरी रुचि से और गहन मंथनपूर्वक पकड़ता है। इस स्तर में मार्ग की समीपता होने से वर्तते परिणमन में मुमुक्षुता वर्द्धमान होने पर भी (पूर्णता का लक्ष्य होने से) कहीं भी संतुष्ट नहीं होता, प्रत्युत प्राप्त योग्यता, उसे गौण हो जाती है कारण कि पूर्णदशा की अभिलाषा निरंतर



वर्तती रहती है। ऐसे मुमुक्षु जीव को गुण की महिमा व गुण की मुख्यता ही वर्तती है जिससे अन्य मुमुक्षु के अल्प गुण के प्रति भी प्रमोद आता है और इस प्रकार से आत्मरुचि अर्थात् गुण की रुचि पोषित होती है। वैराग्य के साथ मुमुक्षुता का विकास हो जैसे आनुषांगिक परिणाम सहज अपनेआप उत्पन्न होते जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं :-

उक्त भूमिका में आये हुए जीव को सत्पुरुष की पहचान होने में, सत्पुरुष के वचनों में निहित 'अनुभव की विधि की गंभीरता और अंतर्मुख परिणमन के रहस्य' को गहन चिंतवन और अवलोकन द्वार खोजता होने से वह पारमार्थिक रहस्य को समझ सकता है तथा उससे सत्पुरुष की अंतरपरिणति की पहचान से सत्पुरुष की महिमा उसके हृदय में स्थित हो जाती है। विशेषकर सत्पुरुष के पुरुषार्थ की परिणति के अवलोकन से उसे स्वयं को ऐसी प्रेरणा मिलती है कि अपनी समग्रशक्ति से (शक्ति को तनिक भी छिपाये बगैर) पुरुषार्थ में लगा रहता है। यहीं से भेदज्ञान की पूर्वभूमिका प्रारंभ होने से विकल्पमात्र में अंदर से दुःख लगने लगता है जिससे विकल्प से खिसकने के दृष्टिकोणवाले परिणमन की तैयारी होती है। उससे औदयिकभाव उसे अत्यंत भाररूप लगे और कहीं भी न सुहाये, ऐसी उदासीनता रहा करे।

स्वकार्य शीघ्र करने की वृत्ति होने से 'पीछे करूँगा' ऐसा अरुचिसूचकभाव कभी भी नहीं आता बल्कि मेरा कार्य अभी ही होता हो तो अविलंब कर लेना ही है। तथापि अन्य कार्य प्रथम करने के कारण यदि विलंब हो तो वह नहीं पोषाता।





प्रत्युत स्वकार्य की तत्परता का परिणाम चालु रहता है। एवम् उसकी अंतर- बाह्य निवृत्ति की चाहतपूर्वक स्वकार्य करने की उत्कंठा रहा करती है।

पात्रता के आनुषंगिक परिणामों में ब्रह्मचर्य की चाहना रहती है। और सैंकड़ों-हजारों विकल्पों की परंपरा का मूल सर्जक ऐसा अब्रह्मचर्य अंतर-आत्मवृत्ति से प्रतिपक्षभूत जानकर उसकी अरुचि रहा करती है।

तथा, स्वच्छंद की हानि होने के लिये अपने परिणामों के अवलोकन के काल में अपने दोष टालने के हेतु से अपक्षपात रूप से देखने का अभ्यास चलता है, उससे ज्ञान में मध्यस्थता और निर्मलता पल्लवित होती जाती है।

बहुजनपरिचय आत्मसाधना के प्रतिकूल परिस्थिति है ऐसा जानकर एकांतप्रियता व अल्पपरिचयीवृत्ति रहती है। राग-रस मंद हुआ होने से आहार, विहार और निहार में नियमितता रहती है जिससे वैसे उदयभाव मर्यादित रसवाले सहज प्रवर्तते हैं। वैराग्य के इस स्तर में आत्मार्थी को तीव्ररसवाले परिणामों से अनियमित आहारादि नहीं होते। इस प्रकार अनेक प्रकार से सामान्य जगत के जीवों और सामान्य मुमुक्षु से विशेष योग्यतावान् होनेपर भी अपने गुणों को व गुरुता को छिपाता है। वैसे प्रकार के मानव प्रसिद्धि से दूर रहना चाहता है। ऐसा होने में कहीं भी कृत्रिमता या आडंबर न हो वैसी विचक्षणता भी रखी जाती है।

सन्मार्ग की यथार्थ कार्यपद्धति के मूल में, मुक्तपने का मूल्यांकन प्रारंभ से ही आया हुआ होता है जिससे आत्मकार्य

की सर्वाधिक मुख्यता रहने के पीछे ऐसी स्पष्ट होती है कि यह एक वास्तविक उपाय है कि जिससे चारों गतियों के जन्म-मरण सहित के सर्व दुःखों का अभाव होकर अनंत काल पर्यंत का पूर्ण समाधिसुख प्राप्त होने का है। सुख-दुःख के इस प्रयोजन संबंधी आत्मविश्वास वर्तता होने से इस उपाय की सर्वाधिक मुख्यता रहनी स्वाभाविक है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के काल में शास्त्रों में आनेवाले सर्व न्याय और अपेक्षित कथन तथा विभिन्न प्रकार की वचन-विवक्षाओं को आत्महित के लक्ष्य से समझने की पद्धति हो जाती है और कहीं भी पूर्वापर विरोधता नहीं भासती या असमाधान नहीं होता। एवम् कोई नया विपर्यास उत्पन्न नहीं होता। उपर्युक्त स्वलक्ष्यीपने के कारण क्षयोपशमज्ञान का विकास होनेपर भी उसमें अहम्भाव होकर शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न नहीं होता। यथार्थता के सदभाव में, जिसका मूल्य न हो सके वैसी समझ का यह प्रकार सहज उत्पन्न होता है, नहीं तो प्रायः शास्त्राभ्यास सदगुरु के चरणसान्निध्य के बगैर जाने-अनजाने में शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न करता है।

पात्रतासूचक अनेक लाक्षणिक परिणामों का एक परिणाम गति-निःशंकता आ जाने से आगामी भवों में नीचगति होने से संबंध में स्वयं को शंका नहीं पड़ती इतना ही नहीं वरन् स्वयं की मुक्तदशा की योग्यता वर्तती होने के कारण तत्संबंधी निःशंकता वर्तती है। और ऐसी निःशंकता को ज्ञानियों ने मुक्ति के मनकार गिनाये हैं।

आत्मारथी जीव सरल परिणामी होता है। यह इस भूमिका



का श्रेष्ठ सद्गुण है जिसके कारण अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। सरलता के कारण विचारशक्ति में मध्यस्थता सहज रहती है जिससे गुण-दोष की तुलना होने में भूल नहीं होती। सरलता और मध्यस्थता रहने से विचारों में विशालता रहती है, जिससे संप्रदायबुद्धि जनित संकुचितता नहीं रहती प्रत्युत जहाँ जहाँ सत्य और सद्गुण दिखाई देते हैं वहाँ वहाँ उनका सहज रूप से स्वीकार होता है। ये तीन सद्गुण तत्त्वप्राप्ति हेतु पात्रतासूचक हैं।

सुखाभास का ज्ञान यानी कि अन्यद्रव्य-भाव में 'सुख की कल्पना' का स्वरूप समझ में आया होने से पदार्थ का वास्तविक स्वरूप लक्ष्य में रखकर, उक्त कल्पना की निवृत्ति हेतु आत्मार्थी प्रयत्नवान् (सावधान) होता है। जिस के कारण जगत के किसी पदार्थ प्रति अंतरंग में भी सुख की कल्पना (वासना) नहीं रहती अथवा परिणती में किसी भी इन्द्रिय-विषय की अपेक्षा नहीं रहती अथवा शुभपरिणामों में या साता वेदनीय के उदयकाल में आश्रयबुद्धि नहीं रहती।

मुमुक्षु की भूमिका में, परमार्थमार्ग का अवरोधक स्वच्छंद नाम का महा दोष है। आत्मार्थी जीव उसके विभिन्न प्रकारों और लक्षणोंको समझकर उसे टालने का प्रयत्न करता है। यदि वैसा न करने में आये तो आत्मार्थीता का नाशक है। ऐसे कितने-ही प्रकार विचारणीय हैं, जो निम्न हैं :-

(१) परलक्ष्यी शास्त्र (ज्ञान) के उघाड 'मैं' समझता हूँ ऐसा अहंभाव और उस अहंभाव के वशात् ज्ञानीपुरुष के वचनों की अपने समान तुलना करना।



(२) अपने दोष का पक्षपात होना, बचाव होना तथा जिसपर राग / ममत्व हो वैसे अन्य व्यक्ति के दोष का पक्षपात होना।

(३) सत्पुरुष के वचन में शंका होनी अथवा उन वचनों को मान्य करने हेतु शास्त्राधार की अपेक्षा रखनी।

(४) सत्पुरुष के वचन में भूल देखनी अथवा अपने क्षयोपशम के अहंभाव के कारण उसमें संशोधन करने का भाव रहना।

(५) जहाँ-जहाँ मान मिले अथवा मान पोषित हो वहाँ जाने का आकर्षण रहे, मान प्राप्ति हेतु मन-वचन-काया की प्रवृत्ति हो अथवा लोकदृष्टि रहे जिसके कि कारण समाज की मुख्यता से आत्मारथ गौण हो। एवम् किसी समूह में अमुक स्थान संरक्षित रहे वैसी परिणति रहा करे एतदर्थ शुभप्रवृत्ति (?) करे अथवा स्वच्छंद तीव्र होनेपर अनैतिक व अशुभप्रवृत्ति भी करे।

(६) सत्पुरुष के उपकार को उल्लंघना यानी कि जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ हो उसीका अवर्णवाद करना।

(७) सत्पुरुष के वचनमृत के प्रति और सत्पुरुष के प्रति अचल प्रेम का अभाव।

(८) प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति परम विनय-अत्यंत भक्ति का अभाव। (यानी कि जितनी विनय की न्यूनता उतना स्वच्छंद होने का अवकाश रहता है)।

(९) सत्पुरुष के औदयिकभावों और औदयिककार्यों में अपने समान कल्पना रहनी।

(१०) सत्पुरुष के बाह्याचरणमें से चारित्रमोह के दोषों को मुख्य करना।

(११) बाह्यज्ञान-शास्त्र की धारणा, उस पर के झुकाव के



कारण अंतर में मार्ग की सूझ न पड़नी अथवा अध्यात्म का विषय गौण होना।

-इत्यादिक प्रकार के परिणाम स्वच्छंद की मंदता अथवा तीव्रता की विद्यमानता को दर्शाते हैं।

तथा, आत्मार्थी जीव के आत्मार्थीता के बाधक ऐसे परिणामों के प्रकार न हों वैसे कितने-ही प्रकार लक्ष्य में लेने योग्य हैं जो निम्न हैं :-

(A) असरलता, हठाग्रह, जिद, पूर्वाग्रह, और मताग्रह आदि प्रकार के भावों का अभाव, मध्यस्थ विचारधारा के कारण व्यक्तिगत पूर्वाग्रह का अभाव।

(B) ज्ञान के क्षोयपशम की विशेषता के कारण अपने को मान मिले वैसी चाहत न हो।

(C) परंपरा और बाह्यक्रिया आग्रह का अभाव।

(D) शास्त्र-कथन तथा ज्ञानी के वचनों का कल्पित अर्थघटन न करे कि जिससे वस्तुस्वरूप से अन्यथापना हो अथवा परमार्थ से दूर जाना हो।

(E) किसी भी कीमत पर सत्पुरुष से विमुख होने का स्वीकार न करे और उसके लिये अपकीर्ति, अपमान, व समाज, को गौण करे।

(F) प्रमाद का अभाव होने से स्वकार्य में उल्लसित वीर्य से आगे बढ़े।

(G) शास्त्र-अध्ययन, तत्त्व-श्रवण और तत्त्व-चर्चा आदि में ऐसा प्रकार न हो कि जिससे अपूर्ण निश्चय हो; विचारों की अपरिपक्वता रहे, शंकाशीलता रहे और उससे विकल्प वृद्धि हो

सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला आत्मीय कैसा हो ?



अथवा विभ्रम उत्पन्न होकर विचारों में कुतर्क व डाँवाडॉलपना रहे।

(H) लौकिक अभिनिवेश यानी कि लोक में जिन-जिन वस्तुओं और बातों का या प्रसंग का महत्त्व गिना जाता है उनके प्रति माहात्म्यबुद्धि का अभाव।

(I) शास्त्रीय अभिनिवेश से दूर रहे। शास्त्रीय अभिनिवेश यानी आत्मार्थ सिवा शास्त्र की मान्यता; अथवा शास्त्र-पठन या धारणा में संतोष; अप्रयोजनभूत विषय में जानपने की महत्ता (और उससे आत्मार्थ की गौणता)।

(J) प्रत्यक्ष सत्पुरुष के सत्संग को गौण कर उसकी तुलना में अपने शास्त्राध्ययन की गणना करनी अथवा शास्त्र को उच्च गुणस्थान स्थित पुरुष के वचन गिनकर उसपर विशेष भार देना (ऐसा अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश ऐसे जीव को ही उपजता है कि जो लौकिक प्रयोजनवश शास्त्र-वाचन करता हो)। ऐसे परिणाम जिसके न हो।

(K) संदिग्ध अवस्था का अभाव। (अ) संदिग्ध अवस्था के कारण, ज्ञान प्राप्ति हेतु अनेक ग्रंथों का अध्ययन करने पर भी, संदेह उपजा करे जिससे कि अप्रयोजनभूत विषयपर वजन रहे और उसमें अटकना हो। (व) प्रत्यक्ष सत्पुरुष के समागम में पहचान का अभाव होने से अंतरंग में सत्पुरुष की अमुक प्रवृत्ति के प्रति संदेह अथवा अविश्वास का परिणाम रहे अथवा उनकी अमुक बात अयोग्य लगे।

(L) निश्चय-अभेद आत्मस्वरूप की रुचि का अभाव। जिसके कारण ज्ञान में भेद-प्रभेद की रुचि रहा करे जिससे कि गुणभेद,



पर्यायभेद, अनेक प्रकार के न्याय, नयज्ञान, कर्म के बंध-उदय और सत्ता के भेद-प्रभेद की जानकारी में रुचि व रस रहे।  
-ऐसे प्रकार का अभाव।

(M) अतिपरिणामीपने का अभाव। अतिपरिणामीपने के कारण शास्त्र के बाह्यज्ञान में ज्ञानप्राप्ति मान लेना तथा विकल्पवाले समाधान से मंदकषाय होने से ज्ञान से प्राप्त लाभ मान लेना उसी भाँति सम्यक् परिणमन के अभाव में भी अपने को कोई मानादि दे-वह रुचना। एवम् जानकारी रूप अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने का भाव। (-ऐसे प्रकार के भावों का अभाव)।

तथा, क्षयोपशमज्ञान में निश्चय-व्यवहार इत्यादि सब समझ में आने पर भी अंदर में मार्ग प्राप्ति की विधि स्वयं को पकड़ने में न आये, अथवा आत्मसाक्षात्कार न हो, तब तक जिज्ञासा का अभाव न हो। उसी भाँति शास्त्र संबंधी या देव-शास्त्र-गुरु संबंधी कोई प्रवृत्ति निज मानार्थ न करे / तीर्थ / शासनकी किसी प्रवृत्ति में अपने मान का लक्ष्य न रहे या न हो। विचारवान् जीव निंदा-प्रशंसार्थ कोई प्रवृत्ति न करे बल्कि पारमार्थिक लाभ-नुकसान का विचारकर प्रवृत्ति करे।

बाह्यक्रिया संबंधी मिथ्या आग्रह न हो कि जिससे असत् अभिमान हो अथवा देहात्मबुद्धि दृढ़ हो। व्रत-संयमादि दैहिक क्रिया में आत्मक्रिया मानने से असत् में सत् की मान्यता होती है और गृहीतमिथ्यात्व का प्रसंग आता है।-ऐसी भूल न करे। एवम् लौकिक मानार्थ भी व्रतादि का पालन न करे।

पुण्य के फलस्वरूप में बाह्य अनुकूलता की अभिलाषा से भी व्रत-तप न करे अथवा कोई रिद्धि-सिद्धि आदि की निदानबुद्धि



भी न करे।

अकेला अध्यात्म-चिंतन यानी कि अध्यात्म-विषय का केवल जानपना करने जानेपर शुष्क अध्यात्मपना उत्पन्न होता है। उसमें अध्यात्म का भावभासन नहीं होता। मात्र राग-रस और अध्यात्म-भाषा का रस (वाणी का रस) जो कि पुद्गल का रस है तथा उसमें आत्मरस / ज्ञानरस का अभाव होता है, सो वह अध्यात्म का व्यामोह है-ऐसा प्रकार भी सच्चे आत्मारथी के, सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले के नहीं होता।

उपर्युक्त योग्यतापूर्वक अपने भावों का अवलोकन होने से 'आत्मभाव तथा अन्य भावों का परिचय होने से उनकी जाति पहचानने में आती है; एवम् आत्मभाव के आदरपूर्वक अन्यभावों का निषेध शुरू होता है। इस भाँति अवलोकन की भूमिका का पर्याप्त प्रयोग होने से उसमें से भेदज्ञान के प्रयोग की उत्पत्ति होती है, ज्यों ज्यों भेदज्ञान का प्रयोग भली भाँति होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान में निर्मलता और सूक्ष्मता प्राप्त होती जाती है। उस निर्मलता व सूक्ष्मज्ञान के कारण, ज्ञानोपयोग में रहे हुए सूक्ष्म ज्ञानस्वभाव का भावभासन आता है यानी कि निजस्वरूप का अस्तित्व ग्रहण होता है। एकबार अस्तित्व ग्रहण होने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। वह इस प्रकार से कि, आत्मस्वरूप अनंत महिमावंत है उतनी उसकी, अपने स्वरूप में, अनंत महिमा भास्यमान होती है और यहाँ से सम्यक् संमुख पुरुषार्थ की (चैतन्यवीर्य की) स्फुरणा उत्पन्न होती है। वह पुरुषार्थ और महिमा दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत होती है और आत्मारथी को उसकी धुन चढ़ जाती है; जिसके फलस्वरूप





निर्विकल्प स्वरूप की निर्विकल्प स्वानुभूति उत्पन्न होती है। वह स्वानुभूति सो ही आत्मसाक्षात्कार है। और उसी समय मिथ्या श्रद्धा नष्ट होकर सम्यक् श्रद्धा / सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। और मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है यानी कि प्रारंभ में ही अनंत जन्म- मरण की अनंतता का नाश हो जाता है जिससे अल्प भव में जीव मोक्षपद को प्राप्त होता है।

ॐ शांति





## सम्यक्त्व क्या है ?

विश्व के सभी दर्शनों के तत्त्वज्ञान में इस विषय का कोई प्रकरण देखा नहीं जाता। अतः यह जैन दर्शन का एक अनुठा प्रकरण है। और जैन दर्शन का रहस्यभूत भी है। पूर्व के अनेक आचार्यों और ज्ञानियों ने इस विषय पर भिन्न भिन्न प्रकार से संकेत किया है। इसलिये यह समजा जाता है। सर्वथा वचनगोचर नहीं होने से यह वचन अगोचर भी कहा जाता है। परन्तु कथंचित् वचनगोचर है। यह बात इसके नामाभिधान से समझी जाती है। परन्तु यह ज्ञानगोचर है। अगर ऐसा नहीं होता तो इसका निर्देश होना ही अशक्य रहेता।

पंचाध्यायी उत्तरार्ध की निम्न गाथा यहाँ पर उल्लेखनीय है।

**सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।**

**तस्माद वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्।।[४००]**

**गाथार्थ :-** सम्यक्त्व वस्तुतः सूक्ष्म है। (बहुभाग) वचननों के अगोचर है। इसलिये विधिपूर्वक कहने के लिये और सुनने के लिये कोई भी अधिकारी नहीं है।



सम्यक्त्व का यह विषय अति सूक्ष्म होने से लोक में हंमेशा रहस्यभूत रहा है। फिर भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण और प्रयोजनभूत होने से यहाँ पर इस विषय पर प्रकाश डालने का यथाशक्ति प्रयास किया गया है।

सम्यक्त्व प्रकट होने पर सभी गुणों का आंशिक शुद्ध और आंशिक आत्मसन्मुख परिणमन होने लगता है। अतः परम कृपालुदेव श्रीमद् रामचन्द्रजी ने इस बात को सूत्र निबद्ध की है। 'सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व'

मूल में सम्यक् शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। और यह शब्द आत्माभिमुख ऐसी दिशासुचकपना का द्योतक है। सम्यक्त्व का जैन संप्रदाय में रूढि अर्थ सत्य और उत्तम प्रचलित है। जिससे इसकी पहचान सरल होवे।

सम्यक्त्व प्रकट होने से आत्मा के अन्य मुख्य गुणों के परिणमन को यह विशेषण प्रयोग किया जाता है। जैसे कि सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् पुरुषार्थ इत्यादि।

प्रथम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग के काल में प्रकट होता है। परन्तु सम्यक्त्व को शुद्धोपयोग के साथ समव्याप्ति भी है और विषम व्याप्ति भी है। (पंचाध्यायी उत्तरार्ध) अर्थात् सम्यक्त्व शुद्धोपयोग के काल में रहता है और शुभ-अशुभ (अशुद्ध) उपयोग के काल में भी रहता है।

यहाँ पर सम्यक्त्व की अनेक पहलु से चर्चा का प्रसंग है। तब उसके उत्पन्न होने के कारण की भी थोड़ी चर्चा आवश्यक है। क्योंकि सम्यक्त्वरूपी कार्य का कारण मुमुक्षु की भूमिका में होता है। इसलिये ऐसे कारण संपन्न मुमुक्षु



को सम्यक् सन्मुख (परिणामवाला) मुमुक्षु कहा जाता है। और मुमुक्षु की भूमिका में ज्ञान ही एकमात्र साधन है। इस विषय में पंचाध्यायी उत्तरार्ध की ४०१ गाथा दृष्टव्य है।

**प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।**

**स्वानुभूत्येनहेतुश्य तस्मात्तत् परमं पदम॥**

**गाथार्थ :-** आत्मा की (मुमुक्षु की भूमिका में) साधनादि विधि में ज्ञान ही एक प्रसिद्ध (मुख्य साधन) है। और (ज्ञान ही) स्वानुभूति का एक मात्र कारण होने से वह परमपद है।

इसप्रकार प्रथम स्वानुभूति के काल में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है अतः सम्यक्त्व का कारण भी ज्ञान ही लेना चाहिये। यह ज्ञान मुमुक्षु की भूमिका में भेदज्ञान का प्रयोगात्मक प्रयासरूप प्रकार है। जहाँ अंशतः राग का (राग के अवलंबन का अंशतः) अभाव करके ज्ञान में आत्म स्वरूप का निश्चय किया जाता है। यहाँ पर जितना अनंत महिमावंत आत्मस्वभाव है उसका भावभासन होता है। और भावभासन होने से इसकी उतनी ही महिमा आने लगती है। और यही स्वरूपमहिमा की (डीग्री) तारतम्यता बढ़ते बढ़ते स्वरूपाकार निर्विकल्प अवस्था होती है। अतः स्वरूप की अत्यंत अत्यंत महिमा वही सम्यक्दर्शन है।

परिणामों के आश्रय अवलंबन की अपेक्षा से त्रिकाल भूतार्थ स्वभाव का आश्रय ही सम्यग्दर्शन है। जिसका संकेत समयसारजी की ११ वी गाथा में श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यदेव ने किया है।

इस प्रकार सम्यक्त्व अंतर्मुख ज्ञान में ही जाना जाता



है। अंतर्मुख होकर के राग का एक सूक्ष्म कण को भी अपने में मिलावट होने नहीं दिया। और अनादि के राग के एकत्व के तोड़करके अध्यास का भी त्याग उसीका नाम सम्यक्त्व है अतः जो भिन्न स्वरूप है ऐसे परद्रव्य और परभाव को भिन्नरूप से अनुभव करना वही सम्यक्त्व है।

अनुभव प्रकाश में पूज्य श्री दीपचंदजी कासलीवाल लिखते हैं 'जहाँ जहाँ ज्ञान वहाँ वहाँ मैं ऐसा दृढ़ भाव सम्यक्त्व है। अर्थात् ज्ञान सामान्य में-अनुभूतिरूप ज्ञान में दृढ़ भाव से अहंपना होने से स्वरूप में अभेदता सधती है। जिसको ज्ञानी पुरुष सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व का विवेचन बहुभाग ज्ञान प्रधानता से होता है। और यह अनेक पहलु से होता है। जिसके कुछ दृष्टांत का यहाँ पर उल्लेख किया जायेगा। जैसेकि विभाव की अत्यंत विपरीतता का ज्ञान में भासित होना वह ज्ञान का सम्यक्त्व है। अपने अविपरीत स्वभाव से प्रतिपक्षरूप स्वभाव जो जो परिणाम में होता है वह सम्यक्ज्ञान में स्पष्टतया मालूम पड़ जाता है।

पुनः जो ज्ञान प्रमाण हुआ वह सम्यक् है। क्योंकि प्रमाणज्ञान में ही सामान्य-विशेष का युगपत अनुभव होता है। इसप्रकार स्वानुभव प्रमाणज्ञान ही सम्यक्ज्ञान है। ज्ञान की सन्मुखता के और भी अनेक पहलु हैं जैसे कि स्वानुभवी मोक्षमार्गी धर्मात्मा को ऐसा अनुभव रहता है कि 'मेरा जो ज्ञान है वह किसी भी कर्म के उदय के आक्रमण के वख्त अपना ज्ञानत्व छोड़ता नहीं है। ऐसा अनुभव सम्यक् है। इस सम्यक्त्व का ऐसा



प्रभाव है। मोक्षमार्गी को प्रतिसमय अनंतगुण विशिष्ट आत्मभाव वर्धमान होता रहेता है। और इसीके अनुपात में अपनी आत्मा निर्मल होती जाती है और द्रव्यकर्म की निर्जरा होती रहेती है।

पुनः सम्यक्दर्शनपूर्वक खिला हुआ ज्ञान अपने प्रयोजन में साधक होने से सम्यक् है।

पुनः भूतार्थ (निज परमात्मस्वरूप) आश्रित नवों तत्त्वों का ज्ञान वह सम्यक्त्व है। नवों तत्त्वों का तत्त्वदृष्टि से भिन्न भिन्न स्वरूप होने पर भी एक द्रव्यमयपणा के कारण से (एक द्रव्यमयपणा एकत्व शक्ति के कारण से है) नवों तत्त्वों में एक चैतन्य ज्योति अखंड भाव से रही हुई है जो सम्यक्दृष्टि जीव के ज्ञान का विषय होती है।

पुनः स्वरूप का स्वयं के ज्ञान में-स्पष्टरूप से ग्रहण होना वही ज्ञान की सम्यक् स्पष्टता है। (विकल्पात्मक बाह्यज्ञान में न्यायादिक की स्पष्टता होना यह वास्तविक स्पष्टता नहीं है।)

स्वरूपदृष्टि स्वरूप को देखकर के स्वयं की महिमा के कारण से स्वरूप में अभेद हो जाये यह दृष्टि का सम्यक्त्व है।

पुनः अनंतगुण समृद्ध पूर्ण पर्याय को भी पर के स्थान में गिननेवाली दृष्टि सम्यक् है।

सम्यक्त्व के और भी कुछ रूप है जो दृष्टव्य है।

व्यवहार का व्यवहार के स्थान में निषेध नहीं करना वह सम्यक् है। और साथ ही व्यवहार का निश्चय के स्थानमें निषेध करना वह सम्यक् है। पंचाध्यायी परमागम में व्यवहार के निषेध



को ही निश्चय का स्वरूप नास्ति से बतलाया है। क्योंकि निश्चय आत्मस्वरूप वचन अगोचर है। वहाँ यही अभिप्राय है। परन्तु मोक्षमार्ग में व्यवहार के स्थान में सदभूत और असदभूत दोनों प्रकार के व्यवहार का सम्यक् प्रकार से निरूपण किया गया है।

आत्मा के सर्व गुणों का स्वरूपाकार परिणमता हुआ अंश वह परिणमन का सम्यक्त्व है।

अनंत स्वसंवेदनपूर्वक परिपूर्ण अंतर्मुखता अभेदरूप से जिनेन्द्र परमात्मा में दिखाई देना वह सर्वज्ञ का सम्यक् प्रकार से दर्शन है।

शास्त्र स्वाध्याय करनेवाले को भेदज्ञानपूर्वक भिन्न, एकांत शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का वेदन होना वह शास्त्र स्वाध्याय का सम्यक् फल है।

जिनागम के सर्व कथन में अथवा ज्ञानीपुरुष के श्रीमुख से प्रवाहित सर्व वचन में आत्मकल्याण का आशय समाविष्ट है। एक परमाणु से लेकर यदि ब्रह्मांड का विवरण और मेषोन्मेष की क्रिया से लेकर शुक्ल ध्यान की सभी बातें एक आत्मकल्याण होने के लिये कही है। अतः यह वचन सम्यक्ता है। जिसका आधार कथन करनेवाले की परिणमन की सम्यक्ता है।

यह सम्यक्त्व का प्रभाव है कि सम्यक्त्वी किसी भी प्रकार का कथन करता है जो पारमार्थिक हेतु वश होता है। और इस कारण से किसी भी मुद्दे पर अधिक वजन देता है परन्तु संतुलीतता खोके नहीं (सम्यक्त्व के अभाव में ऐसा ही कथन एकांतपना धारण करता है) अतः जहाँ सम्यक् एकांत है वहाँ



ही सम्यक् अनेकांत है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की समीक्षा प्रतिपक्षपना के कारण से करने योग्य है।

परद्रव्य और परभाव में अपनापन वह मिथ्यात्व है तो परद्रव्य और परभाव में परपना का भाव वह सम्यक्त्व है।

परद्रव्य में और राग का कर्तापना जो मिथ्यात्व है तो परद्रव्य और राग का ज्ञातापना सम्यक्त्व है।

परद्रव्य की आधारबुद्धि मिथ्यात्व है जबकि स्वद्रव्य की आधारबुद्धि वह सम्यक्त्व है।

परद्रव्य में सुखबुद्धि मिथ्यात्व है तो स्वद्रव्य में सुखबुद्धि सम्यक्त्व है।

अंत में यह उल्लेखनीय है कि सम्यक्त्व दो काम करता है-एक श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और पुरुषार्थ के परिणमन में विपरीतता होने नहीं देता और दूसरा नये कर्म के आश्रव को रोक लेता है। अतः सम्यक्त्व स्वयं संवर है।

मोक्षमार्ग के यह सम्यक्त्व के अलावा, इस सम्यक्त्व के कारणभूत जो भूमिकायें हैं उसमें कार्य का कारण में उपचार करके मुमुक्षु की भूमिका का सम्यक्त्व कृपालुदेव राजचन्द्रजी ने बताया है। जो निम्न प्रकार है।

मूल में चैतन्यमें से उत्पन्न भावना, यानी राग-द्वेष में से नहीं उत्पन्न हुई भावना अवश्य सफल होती है। जैसे निश्चय मोक्षमार्ग के परिणाम उदय के साथ जुड़ते नहीं अतः अनुदय परिणाम है, वैसे इस प्रकार की भावना किसी भी अनुकूल-प्रतिकूल उदय के साथ जुड़ती नहीं है। जो भविष्य में होनेवाले





मोक्षमार्ग के अनुदय परिणाम सदृश्य होने से मोक्षमार्ग में कारणभूत होकर के परिवर्तीत हो जायेगी।

सजीवनमूर्ति की पहचान होने से उनके वचन की प्रतीति उनके वचन को आज्ञा समझकरके रुचिपूर्वक उसका अनुसरण करना ऐसी आज्ञारुचि और उनकी स्वच्छंद निरोध भक्ति कि जिस भक्ति में भक्ति का अहंभाव भी नहीं होता है। ऐसे परिणाम परमार्थ सम्यक्त्व का प्रत्यक्ष कारण होने से इस भूमिका का यह बीजभूत सम्यक्त्व कहा गया है। (आत्मसिद्धि गाथा :१७)

जिसको सजीवनमूर्ति की पहचान होती है उसको निष्पक्षरूप से अपने परिणाम का और दोषों का अवलोकन का प्रयोग चालु होता है और इस प्रयोग के दौरान अपने विपरीत अभिप्राय मिटते जाते हैं और अविपरीत अभिप्राय बनते जाते हैं। इस प्रकार चारों पड़खों से यथार्थता उत्पन्न होती है। जो यथार्थता आगे जा करके सम्यक्त्व में परिवर्तीत होती है। अतः आत्मार्थी का यथार्थ परिणमन कारण है और सम्यक्त्व कार्य है।

इस प्रकार के यथार्थ परिणमन में जब आत्मस्वरूप की पहचान होती है तब स्वरूप का भावभासनपूर्वक स्पष्टता निश्चय होता है। इस प्रकार के निश्चय के साथ निश्चयबल पैदा होता है और अनंत महिमावंत परम पदार्थ परमात्मतत्त्व की उत्कृष्ट महिमा और अभेद रुचि प्रकट होती है। ऐसी सम्यक्त्व सन्मुख भूमिका परमार्थ सम्यक्त्व की अंगभूत होने से सम्यक्त्व का साक्षात् कारण है। अथवा उक्त परिणाम सम्यक्त्व का साक्षात्कार करा देगा।



✿ अंत में सम्यक्त्व की स्तुति-प्रशंसा करते हुए-

(१) अनंत जन्म-मरण को कोई रोकनेवाला है तो एक सम्यक्त्व ही है।

(२) सम्यक्त्व स्वरूप की भ्राँति को पैदा होने नहीं देता !

(३) सम्यक्त्व एक बलवान यौद्धा है जिसके तेज से सर्व कर्म दूर से ही पीठ दिखाकर भगने लगते हैं और सम्यक्त्व ही अनंत गुणों को प्रकट होने का मूल है।

ॐ शांति



ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट  
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ जिणसासणं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०८-००
०२ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग - पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्त्वचर्चा)	३०-००
०३ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनमृतोंका संकलन)	०६-००
०४ दंसणमूलो धम्मो (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
०५ निर्घात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
०६ परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनमृत)	
०७ प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
०८ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
०९ विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनमृतोंका संकलन)	१०-००
१० सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
११ तत्त्वानुशीलन (भाग १-२-३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
१२ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	
१३ ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनमृत)	
१४ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	
१५ सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छः पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
१६ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-५६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१७ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
१८ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनमृतोंका संकलन)	१५०-००
१९ धन्य आराधना (श्रीमद् राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	
२० सिद्धपदका सर्वश्रेष्ठ उपाय	२५.००
२१ कुटुम्ब प्रतिबंध	२५.००



२२	दिशा बोध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
२३	प्रवचन नवनीत भाग-१ (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)	२०-००
२४	गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
२५	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
२६	कहान रत्न सरिता (परमागमसार के विभिन्न वचनमृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	३०.००
२७	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	४०.००
२८.	वचनमृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री के नायरोवी में हुए प्रवचन)	२०.००
२९.	प्रवचन सुधा भाग-१ (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०.००
३०.	प्रवचन नवनीत भाग-२ (पूज्य गुरुदेवश्री के पसंद के खास प्रवचन)	२०.००
३१.	प्रवचन नवनीत भाग-३ (पूज्य गुरुदेवश्री के पसंद के खास प्रवचन)	२०.००
३२.	प्रवचन नवनीत भाग-४ (पूज्य गुरुदेवश्री के पसंद के खास प्रवचन)	२०.००
३३.	मुक्ति का मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन)	१०.००

# વિતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ

## ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧ ગુરુગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ ત)	૦૫-૦૦
૦૨ જિજ્ઞાસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૦૩ દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત)	૦૨-૦૦
૦૪ દ્રવ્યદષ્ટિપ્રકાશ ભાગ-૩ (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૦૫ દસલક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂ. ગુરુદેવશ્રીનાં પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૦૬ ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૦૭ નિભ્રાંત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૦૮ પરમાત્મપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૦૯ પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૧૦ પ્રવચન નવનીત ભાગ-૧ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૧૧ પ્રવચન નવનીત ભાગ-૨ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૧૨ પ્રવચન નવનીત ભાગ-૩ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નવ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૧૩ પ્રવચન નવનીત ભાગ-૪ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૧૪ પ્રવચન પ્રસાદ ભાગ-૧-૨ (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૧૫ પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૧૬ વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૭ ભગવાન આત્મા (દ્રવ્યદષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૧૮ પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૧૯ સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી શુલ્લક)	૧૫-૦૦
૨૦ આધ્યાત્મિક પત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૨૧ અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	પ્રેસમાં
૨૨ જ્ઞાનામૃત (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃતો)	૦૬-૦૦
૨૩ બીજું કાંઈ શોધ મા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૨૪ મુમુક્ષુતા આરોહણ ક્રમ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૨૫ સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભુત છ પદનો અમૃત પત્ર (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૪૮૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૬ આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૬૯, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી	

	શ્રીશીભાઈના પ્રવચનો	રૂ.૦-૦૦
૨૭	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૮	અનુભવ સંજીવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૨૯	સિદ્ધ પદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦ ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૦	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૧	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં 'બહેનશ્રીના વચનામૃત' પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦.૦૦
૩૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫.૦૦
૩૪	દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, ૫૭૨, પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૫	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) ('પરમાગમસાર' માંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૬	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં 'સમયસાર' પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫.૦૦
૩૭	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત 'સુવિધિ' લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫.૦૦
૩૮	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫.૦૦
૩૯	સમકિતનું બીજ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્પુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦.૦૦
૪૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૧	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) ('પરમાગમસાર' માંથી કમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦.૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૩	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૪	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) 'કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦

૪૫	કાર્તિકેવાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) 'કાર્તિકેવાનુપ્રેક્ષા' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનીજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૬	બૃહદ્ર દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) 'દ્રવ્યસંગ્રહ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનીજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો.	૨૦.૦૦
૪૭	બૃહદ્ર દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) 'દ્રવ્યસંગ્રહ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનીજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો.	૨૦.૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૪૯	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૫૧	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૨	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૩	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સોગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૪	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) ('દ્રવ્યદૃષ્ટિ પ્રકાશ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૫	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) ('બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૫૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) 'પ્રવચનસાર' શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૫૭	રાજહૃદય (ભાગ-૩) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦



वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से  
प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
०२	प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००
०३	पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००
०४	पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००
०५	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
०६	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
०७	अनुभव प्रकाश	२१००
०८	परमात्मप्रकाश	४१००
०९	समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००
१०	आत्मअवलोकन	२०००
११	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	ज्ञानामृत (गुजराती)	१०,०००
१४	योगसार	२०००
१५	अध्यात्मसंदेश	२०००
१६	पद्मनंदीपंचविंशती	३०००
१७	समयसार	३१००
१८	समयसार (हिन्दी)	२५००
१९	अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००
२०	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	८६००
२२	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००
२३	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२४	अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००
२५	धन्य अवतार (गुजराती)	३७००
२६	धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००
२७	परमामगसार (गुजराती)	५०००
२८	परमामगसरा (हिन्दी)	४०००
२९	वचनामृत प्रवचन भाग-१-२	५०००



३०	निर्भूत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
३१	निर्भूत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७०००
३२	अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
३४	जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
३५	जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
३६	द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
३७	दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
३८	धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
३९	धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
४०	प्रवचन नवनीत भाग-१-४	५८५०
४१	प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	१५००
४२	पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
४३	प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
४४	प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
४५	विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
४६	विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
४७	भगवान आत्मा (गुजराती)	२०००
४८	सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
४९	सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
५०	तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
५१	तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
५२	बीजुं कांई शोध मा (गुजराती)	४०००
५३	दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
५४	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
५५	मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
५६	अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
५७	अमृत पत्र (हिन्दी)	२०००
५८	परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
५९	परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	२०००
६०	आत्मयोग (गुजराती)	१५००
६१	आत्मयोग (हिन्दी)	२५००

६२	अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
६३	अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
६४	ज्ञानामृत (हिन्दी)	२५००
६५	वचनामृत रहस्य	१०००
६६	दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३०००
६७	कहान रत्न सरिता (हिन्दी-गुजराती)	२५००
६८	प्रवचन सुधा (भाग-१)	१०००
६९	कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी-गुजराती)	३५००
७०	सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७१	गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३०००
७२	आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	७५०
७३	प्रवचन सुधा (भाग-२)	७५०
७४	समयसार दोहन	७५०
७५	गुरु गुण संभारणा	७५०
७६	सुविधिदर्शन	१०००
७७	समकितनुं बीज	१०००
७८	स्वरूपभावना	१०००
७९	प्रवचन सुधा (भाग-३)	१०००
८०	प्रवचन सुधा (भाग-४)	१०००
८१	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१	१०००
८२	कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२	१०००
८३	सुविधि दर्शन (हिन्दी)	१०००
८४	प्रवचन सुधा (भाग-५)	१०००
८५	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१)	१०००
८६	द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२)	१०००
८७	वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००
८८	प्रवचन सुधा (भाग-६)	१०००
८९	राज हृदय (भाग-१)	१५००
९०	राज हृदय (भाग-२)	१५००
९१	अध्यात्मसुधा (भाग-१)	१०००
९२	अध्यात्मसुधा (भाग-२)	१०००
९३	गुरु गिरा गौरव (भाग-१)	१०००
९४	अध्यात्म सुधा (भाग-३)	१०००

९५	प्रवचन सुधा (भाग-७)	१०००
९६	राज हृदय (भाग-३)	७५०
९७	प्रवचन सुधा (भाग-१) हिन्दी	१०००
९८	प्रवचन नवनीत (भाग-२) हिन्दी	१०००
९९	प्रवचन नवनीत (भाग-३) हिन्दी	१०००
१००	प्रवचन नवनीत (भाग-४) हिन्दी	१०००
१०१	मुक्ति का मार्ग (हिन्दी)	१०००

२६०

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

पाठको की नोंध के लिये